जैसे वृक्ष के अस्तित्व के बिना फल का अस्तित्व नहीं हो सकता, वैसे ही गुणस्थान-सिद्धान्त के अस्तित्व के बिना गुणस्थान के विभिन्न भेदों का अस्तित्व संभव नहीं है। जैसे लेश्या की अवधारणा के बिना कृष्ण, नील, कापोत आदि लेश्याभेद-वाचक नामों का प्रचलन असम्भव है, वैसे ही गुणस्थान की अवधारणा के बिना अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानभेद-वाचक संज्ञाओं का प्रचलन असंभव है। यतः इन गुणस्थानभेद-वाचक संज्ञाओं का बहुशः प्रयोग तत्त्वार्थसूत्र में हुआ है, अतः गुणस्थान की अवधारणा तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित हुई है, यह मान्यता अयुक्तियुक्त और प्रत्यक्ष प्रमाण-विरुद्ध है।

२.११. प्रतिपादनशैली से गुणस्थानसिद्धान्त के पूर्वभाव की पुष्टि

२.११.१. **गुणस्थान-विवरण के बिना गुणस्थानाश्रित निरूपण**—उपरिदर्शित पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग द्वारा अर्थद्योतन की शैली पर ध्यान देने से हम पाते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणस्थानाश्रित निरूपण को संक्षिप्त बनाने के लिए दो उपायों का अवलम्बन किया है। उनमें पहला है गुणस्थान-सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत किये बिना गुणस्थानानुसार ध्यान-परीषहादि का प्रतिपादन। उन्होंने न तो किसी सूत्र में गुणस्थान का लक्षण बतलाया है, न चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश किया है, न ही अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों की व्याख्या की है और न ही इन्हें 'गुणस्थान' नाम से सम्बोधित किया है। वे सीधे गुणस्थान-विशेष का नाम लेते हुए यह बतलाते चले गये हैं कि किस गुणस्थान में कौन-कौन से परीषह होते हैं, किस गुणस्थान में कौन सा ध्यान संभव है, किस गुणस्थान में किस कर्मप्रकृति का बन्ध हो सकता है और किन गुणस्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इससे सूचित होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार भलीभाँति जानते थे कि जिनागम में गुणस्थान-सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है और अनेक पूर्वग्रन्थों में उसका विस्तार से निरूपण है, अतः श्रुताराधक टीकाकारों और उपदेशकों को 'तत्त्वार्थ' के सूत्रों की टीका-व्याख्या करना दुरूह नहीं होगा। पूर्वाचार्यकृत ग्रन्थों के द्वारा वे मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत आदि जीवावस्थाओं की गुणस्थानात्मकता, उनकी उत्पत्तिविषयक सम्पूर्ण कारणव्यवस्था, उनकी उदय-उपशम-क्षयोपशम-क्षयात्मकता, उनकी मिथ्यात्व-सम्यक्त्व, अविरति-विरति, प्रमाद-अप्रमाद, कषाय-अकषाय, योग-अयोगमयता, उनकी आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष एवं ध्यान-परीषहादि-सम्बन्धी योग्यता तथा उन अवस्थाओं की चतुर्दशविध तरतमता सरलतया समझ जायेंगे। इसी विचार से सूत्रकार ने तत्त्वार्थसूत्र में इन सबकी प्ररूपणा नहीं की।

यदि गुणस्थान-सिद्धान्त पूर्वप्रसिद्ध न होता, तो तत्त्वार्थसूत्रकार ने जो उसका परिचय दिये बिना, केवल गुणस्थानों का नामोल्लेख करते हुए, परीषहादि के स्वामित्व का

वर्णन किया है वह कार्यकारी न होता, क्योंकि पाठक जब यही नहीं समझ पाते कि अविरत, देशविरत आदि किसके नाम हैं, उनसे क्या विवक्षित है, तब उनके विषय में किये गये कथन को यथावत् कैसे ग्रहण कर पाते? अतः सिद्ध है कि गुणस्थान-सिद्धान्त पूर्वप्रसिद्ध था, इसीलिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने उसका परिचय दिये बिना ही गुणस्थान-सम्बन्धी निरूपण किया है।

दूसरी बात यह है कि यदि सूत्रकार स्वयं गुणस्थान-सिद्धान्त से अपरिचित होते, तो न तो वे उक्त गुणस्थान-भेदों का उल्लेख कर पाते, न ही उनमें विभिन्न परीषहों, ध्यानभेदों और गुणश्रेणीनिर्जरा के स्वामित्व का जो आगमसम्मत निरूपण किया है, वह संभव होता। इससे ज्ञात होता है कि वे गुणस्थान-सिद्धान्त से भली-भाँति परिचित थे। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकार की प्रतिपादनशैली से गुणस्थान-सिद्धान्त के पूर्वभाव की पुष्टि होती है।

यदि कोई कहे कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने उक्त गुणस्थानभेद स्वबुद्धि से कल्पित किये हैं और उनमें जिन परीषहादि भेदों का अस्तित्व बतलाया है, वह भी उनकी कल्पना की उपज है, तो यह युक्ति और प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि—

१. यदि अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत आदि जीव-अवस्थाओं को तत्त्वार्थसूत्रकार ने स्वबुद्धि से कल्पित किया होता, तो वे उनका सुव्यवस्थित (विधिपूर्वक) प्रतिपादन करते। अर्थात् ये क्या हैं, किसके भेद हैं, यह बतलाने के लिए सूत्रकार इन्हें गुणस्थान या जीवसमास आदि कोई नाम देते तथा इनके कुल कितने भेद हैं, यह स्पष्ट करने के लिए एक सूत्र में इन सब का नामोल्लेख करते तथा ये भेद किस आधार पर किये गये हैं, यह भी स्पष्ट करते। क्योंकि ऐसा करने पर ही उनके नवीन सिद्धान्त को पाठक हृदयंगम करने में समर्थ हो पाते। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इससे सिद्ध है कि गुणस्थानों के तत्त्वार्थसूत्र-निर्दिष्ट भेद सूत्रकार द्वारा कल्पित नहीं हैं, अपितु आगमोक्त हैं। आगम (कसायपाहुड, षट्खण्डागम आदि पूर्वाचार्यकृत ग्रन्थों) में गुणस्थानों का विधिपूर्वक प्रतिपादन होने से तत्त्वार्थकर्त्ता ने अपने ग्रन्थ में उसकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं समझी।

२. यदि गुणस्थान तत्त्वार्थकर्त्ता द्वारा कल्पित होते, तो आगमसिद्ध न होने के कारण समकालीन आचार्य उन्हें मान्यता प्रदान न करते, किन्तु किसी ने भी उनका विरोध नहीं किया। इससे सिद्ध है कि वे आगमोक्त ही हैं, तत्त्वार्थकर्त्ता द्वारा कल्पित नहीं।

३. अनेक प्रमाण इस बात की गवाही देते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रंथों के आधार पर की गई है (देखिए 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक अध्याय)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इससे भी साबित होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में उल्लिखित गुणस्थान उसके कर्त्ता ने कल्पित नहीं किये।

४. श्वेताम्बरपरम्परा में उमास्वाति को सूत्र और भाष्य दोनों का कर्त्ता माना गया है। भाष्य की सम्बन्धकारिकाओं में उमास्वाति ने कहा है कि तत्त्वार्थसूत्र एक संग्रह-ग्रन्थ है।[१६३] अर्थात् उसमें प्रतिपादित विषय पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से संगृहीत किये गये हैं। यह भी इस बात का प्रमाण है कि तत्त्वार्थसूत्रोल्लिखित गुणस्थान तत्त्वार्थसूत्रकार की बुद्धि से उद्भूत नहीं, अपितु आगमोक्त हैं।

५. श्वेताम्बरीय 'जीवसमास' (छठी शती ई०) में चौबीस तीर्थंकरों को चौदह गुणस्थानों का ज्ञाता कहा गया है,[१६४] जिससे सिद्ध है कि श्वेताम्बराचार्य भी उमास्वाति को गुणस्थानसिद्धान्त का प्रवर्तक नहीं मानते। इसका फलितार्थ यह है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को गुणस्थानसिद्धान्त का ज्ञान आचार्यपरम्परा से प्राप्त था अर्थात् वह जिनोपदिष्ट है।

२.११.२. **अन्तदीपकन्याय से अनुक्त गुणस्थानों का द्योतन**—गुणस्थानाश्रित निरूपण के संक्षिप्तीकरण के लिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने जो दूसरा उपाय अपनाया है, वह है अन्तदीपकन्याय से अनुक्त गुणस्थानों का द्योतन।

ग्रन्थकार ने अन्तदीपकन्याय से समानधर्म-वाचक शब्द के द्वारा सभी समानधर्मा गुणस्थानों को द्योतित किया है। जैसे आर्त्तध्यान के स्वामियों (पात्रों) का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—'**तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्।**' (त.सू./९/३४) (= वह आर्त्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों को होता है)। यहाँ 'अविरत' शब्द को अन्तदीपक के रूप में प्रयुक्त कर उसके द्वारा अविरति-धर्मवाले मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरत-सम्यग्दृष्टि इन आदि के चार गुणस्थानों का बोध कराया गया है,[१६५] क्योंकि इन चारों गुणस्थानों में आर्त्तध्यान सम्भव है। यदि 'अविरत' शब्द से केवल अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान का उल्लेख माना जाय तो यह सिद्ध होगा कि मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थानों में आर्त्तध्यान नहीं होता, जो आगमविरुद्ध है। अतः स्पष्ट है कि 'अविरत' पद उपर्युक्त चार गुणस्थानों का द्योतन करता है। माननीय पं०

---

१६३. तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं सङ्ग्रहं लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य॥ २२॥ तत्त्वार्थाधिगमभाष्य।

१६४. दस चोद्दस य जिणवरे चोद्दस गुणजाणए नमंसिता।
चोद्दस जीवसमासे समासओऽणुक्कमिस्सामि॥ १॥ जीवसमास।

१६५. "अविरताः असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः।" (स.सि./९/३४)। "असंजद इदि जं सम्मादट्ठिस्स विसेसण-वयणं तमंतदीवयत्तादो हेट्ठिल्लाणं सयलगुणट्ठाणाणमसंजदत्तं परूवेदि।" धवला/ष.ख./पु.१/१, १, १२/पृ.१७४।

सुखलाल जी संघवी ने भी उक्त सूत्र का विवेचन करते हुए लिखा है—"प्रथम (अविरत) के चार (मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि) तथा देशविरत व प्रमत्तसंयत इन छः गुणस्थानों में उक्त आर्त्तध्यान संभव है।" (त.सू./वि.स./९/३१-३५/पृ.२२६)।

इसी प्रकार रौद्रध्यान के पात्रों का कथन करते हुए सूत्रकार ने यह सूत्र रचा है—**'हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः'** (त.सू./९/३५)।

अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षण के निमित्त से अविरत और देशविरत जीवों को रौद्रध्यान होता है।

यहाँ भी 'अविरत' पद अन्तदीपक के रूप में प्रयुक्त किया गया है, अत एव उससे भी उपर्युक्त चारों गुणस्थान संकेतित किये गये हैं।

'बादरसाम्पराये सर्वे' (त.सू./९/१२) इस सूत्र में प्रयुक्त **'बादरसाम्पराय'** पद श्वेताम्बरमत के अनुसार अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान का वाचक है और अन्तदीपकन्याय से अपने साथ अपने से पूर्ववर्ती गुणस्थानों का भी बोध कराता है। यह स्पष्टीकरण पं० सुखलाल जी संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र की विवेचना में इस प्रकार किया है—

"जिसमें सम्पराय (कषाय) की बादरता अर्थात् विशेषरूप में सम्भावना हो उस बादरसम्पराय नामक नवें गुणस्थान में बाईस परीषह होते हैं, क्योंकि परीषहों के कारणभूत सभी कर्म वहाँ होते हैं। नवें गुणस्थान में बाईस परीषहों की संभावना का कथन करने से उसके पहले के छठे आदि गुणस्थानों में उतने ही परीषह संभव हैं, यह स्वतः फलित हो जाता है।" (त.सू./वि.स./९/१०-१२/पृ.२१६)।

दिगम्बरमत इससे भिन्न है। सर्वार्थसिद्धि (९/१२) में **बादरसाम्पराय** शब्द को नवम गुणस्थान का वाचक न मानकर स्थूलकषाय का वाचक स्वीकार करते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान से पहले के प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्ति बादरसाम्पराय, इन चार गुणस्थानों का बोधक माना है, जैसा कि पूज्यपाद स्वामी के निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—"**साम्परायः कषायः। बादरः साम्परायो यस्य स बादरसाम्पराय इति। नेदं गुणस्थानविशेष-ग्रहणम्। किं तर्हि? अर्थनिर्देशः। तेन प्रमत्तादीनां संयतानां ग्रहणम्**" (स.सि./९/१२)।

इस प्रकार आदिदीपक, मध्यदीपक और अन्तदीपक के रूप में किसी विशेषण का प्रयोग तभी किया जा सकता है, जब उससे संकेतित धर्म अनेक पदार्थों में हो और वे परस्पर अनुबद्धक्रम में आगमप्रसिद्ध या लोकप्रसिद्ध हों। जैसे, चौदह गुणस्थान

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, इस क्रम से परस्पर अनुबद्धरूप में शास्त्र में प्रसिद्ध हैं, इसीलिए 'अविरत' शब्द अन्तदीपक के रूप में प्रयुक्त किये जाने पर इन चारों गुणस्थानों का बोध कराता है, क्योंकि इन चारों गुणस्थानों में अविरतिभाव मौजूद है। यदि ये चारों उक्त प्रकार से अनुबद्धक्रम में आगमप्रसिद्ध न होते, तो न तो कोई ग्रन्थकार 'अविरत' शब्द का अन्तदीपक के रूप में प्रयोग कर सकता था, न ही कोई पाठक या टीकाकार इस शब्द से उक्त चारों गुणस्थानों का अभिप्राय ग्रहण कर पाता।

यतः तत्त्वार्थसूत्रकार ने तत्त्वार्थसूत्र में 'अविरत' और 'बादरसम्पराय' शब्दों का प्रयोग अन्तदीपक के रूप में किया है अर्थात् उनके द्वारा उक्त धर्मोंवाले सभी पूर्ववर्ती गुणस्थानों का कथन किया है, अतः इस प्रतिपादनशैली से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि तत्त्वार्थसूत्रकार के काल में चौदह गुणस्थान परस्पर-अनुबद्ध क्रम में आगमप्रसिद्ध थे और वे आगम थे कसाय-पाहुड, षट्खण्डागम, समयसार, मूलाचार आदि। अतः गुणस्थानसिद्धान्त के विषय में जो विकासवादी अवधारणा थोपी गई है और तत्त्वार्थसूत्र में जो उसके बीजमात्र होने की अवधारणा पैदा की गयी है, वह एक महान् सत्य का अपलाप करने की खेदजनक चेष्टा है।

२.१२. तत्त्वार्थसूत्र का सम्पूर्ण प्रतिपादन गुणस्थान-केन्द्रित

जीव के चतुर्दश-गुणस्थानरूप परिणामों, उनके निमित्त से उत्पन्न होनेवाले आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षरूप फलों तथा उन परिणामों की चतुर्विध-ध्यानादि-विषयक योग्यताओं का वर्णन ही सम्पूर्ण तत्त्वार्थसूत्र में है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के सद्भाव और अभाव से युक्त जीव अवस्थाओं का नाम गुणस्थान है। इन पाँच भावों का वर्णन तत्त्वार्थसूत्रकार ने '**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः**' (त.सू./८/१) इस सूत्र में किया है। ये बन्ध के हेतु हैं, इसलिए इनके अभाव से प्रकट सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ये पाँच भाव मोक्ष के हेतु हैं, यह अर्थ उन्हें बन्ध-हेतु कहने से स्वतः फलित होता है। इस प्रकार सभी चौदह गुणस्थान इस एक सूत्र द्वारा द्योतित किये गये हैं। उदाहरणार्थ, मिथ्यादर्शन के उदय से युक्त जीव की अवस्था का नाम मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान है। अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यग्दर्शन के विनाश और एक समय से लेकर अधिक से अधिक छह आवली-काल तक मिथ्यादर्शन के उदय न होने की अवस्था को सासादन-गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यादर्शन के अनुदय, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व के उदय की अवस्था सम्यग्मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान कहलाती है। मिथ्यादर्शन के विनाश से उत्पन्न सम्यग्दर्शन तथा उसके साथ अविरति के सद्भाव की अवस्था अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान कही गयी है। अविरति और विरति की मिश्रावस्था को देशविरत या संयतासंयत-गुणस्थान

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

शब्द से अभिहित किया गया है। अविरति के सर्वथा अभाव, किन्तु प्रमाद के सद्भाव की अवस्था को प्रमत्तसंयत-गुणस्थान संज्ञा प्रदान की गयी है, और अविरति तथा प्रमाद दोनों के अभाव की अवस्था अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान नाम से वर्णित की गयी है। अविरति और प्रमाद के अभाव के साथ उपशम या क्षय के द्वारा उत्तरोत्तर न्यून होती हुई कषायों के उदय से युक्त अवस्थाओं को क्रमशः अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान नाम दिये गये हैं। समस्त कषायों के उपशम से युक्त अवस्था उपशान्तमोह-गुणस्थान और क्षय से युक्त अवस्था क्षीणमोह-गुणस्थान कही गयी है। केवलज्ञान के साथ योग के सद्भाव की अवस्था को सयोगिकेवली-गुणस्थान और योग के अभाव की अवस्था को अयोगिकेवली-गुणस्थान नामों से व्यवहृत किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त बन्धहेतु-सूत्र द्वारा जीव की चौदह गुणस्थानरूप अवस्थाएँ द्योतित की गयी हैं।

यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य है कि मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में बन्ध के मिथ्यादर्शनादि पाँचों हेतु विद्यमान होते हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में मिथ्यादर्शन को छोड़कर शेष चार बन्धहेतुओं का अस्तित्व होता है। संयता-संयत-गुणस्थान में विरतिमिश्र-अविरति (स. सि. / ८ / १, तत्त्वार्थवृत्ति ८/१) तथा प्रमाद, कषाय और योग ये चार बन्ध हेतु उपलब्ध होते हैं। प्रमत्तसंयतगुणस्थान में प्रमाद, कषाय और योग इन तीन बन्धहेतुओं की सत्ता होती है। अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-बादरसाम्पराय और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानों में कषाय और योग, ये दो बन्धहेतु होते हैं। तथा उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय एवं सयोगिकेवली गुणस्थानों में मात्र योग नामक बन्धहेतु का अस्तित्व होता है। अयोगिकेवली गुणस्थान में कोई भी बन्धहेतु नहीं होता।

'**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' (त.सू. / १ / १) सूत्र असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगकेवली तक के ग्यारह गुणस्थानों को प्रतिबिम्बित करता है, क्योंकि ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्तरोत्तर विकसित होती हुई अवस्थाएँ हैं। '**तपसा निर्जरा च**' (त. सू. / ९ / ३) सूत्र द्वारा तप को निर्जरा का साधन निरूपित कर, ध्यान को छह आभ्यन्तर तपों में परिगणित कर और चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों को ध्यान का अधिकारी बतलाकर उक्त ग्यारह गुणस्थानों को ही सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्ष का मार्ग प्रतिपादित किया गया है।[१६६] इस तरह तत्त्वार्थसूत्र के प्रतिपाद्य विषय की आधारशिला ही चौदह-गुणस्थान हैं। "**औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च**" (त.सू./ २ / १)—जीव के इन पाँच

१६६. "मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि।" धवला / ष.ख./ पु.१/१,१,२२/ पृ.२०१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

भावों में से प्रथम चार भाव भी औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक गुणस्थानों के निष्पादक हैं। और षष्ठ अध्याय में तेरह गुणस्थानों को ही विभिन्न कर्म प्रकृतियों का आस्रवक बतलाया गया है, जैसे—'**सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरा बालतपांसि दैवस्य**' (त.सू./६/२०)। इस सूत्र में 'सरागसंयम' शब्द द्वारा षष्ठ एवं सप्तम गुणस्थानों को और 'संयमासंयम' शब्द से पञ्चम गुणस्थान को देवायु का आस्रवक बतलाया गया है।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र का सम्पूर्ण प्रतिपादन गुणस्थान-केन्द्रित ही है। यदि गुणस्थान-व्यवस्था का विकास तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद हुआ होता, तो उसमें षट्खण्डागम की गुणस्थान-व्यवस्था से अक्षरशः संगति रखनेवाला इतना सुव्यवस्थित, निर्दोष, गुणस्थान-केन्द्रित विषय-प्रतिपादन नहीं हो सकता था। स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को षट्खण्डागम, भगवती-आराधना आदि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में प्ररूपित गुणस्थान-व्यवस्था का ज्ञान गुरुपरम्परा से प्राप्त था। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि इन ग्रन्थों की रचना तत्त्वार्थसूत्र की रचना से पहले हुई थी।

२.१३. तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-केन्द्रित निरूपण सर्वमान्य

सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों और विद्वानों को यह मान्य है कि तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-केन्द्रित प्ररूपण है। पूज्यपाद, अकलंकदेव, श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनगणी आदि की टीकाएँ इसका प्रमाण हैं। सिद्धसेनगणी ने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में आये **वीतरागच्छद्मस्थ** शब्द का अर्थ ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्तमोह और क्षीणमोह निर्ग्रन्थ किया है—"**उपशमितक्षपितमोहजाला विगताशेषरागद्वेषमोहत्वाद् एकादश-द्वादशगुणस्थानवर्तिनस्ते छद्मस्थाः।**" (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ९/४८/पृ.२८४)। तथा **सयोगाः** और **शैलेशीप्रतिपन्नाः** को क्रमशः तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती स्नातक शब्द से व्याख्यात किया है, यथा—"**सयोगाः त्रयोदश-गुणस्थानवर्तिनो निरस्तघाति-कर्मचतुष्टयाः केवलिनः स्नातकाः। शैलेशीप्रति-पन्नाश्चेत्यनेनायोगकेवलिन उपात्ताः।**" (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ९/४८/पृ.२८४) इससे स्पष्ट होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में चौदह गुणस्थान-केन्द्रित निरूपण है, यह तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार सिद्धसेनगणी को भी मान्य है।

'भगवती-आराधना' के टीकाकार अपराजितसूरि ने लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानमात्र का आश्रय लेकर आर्त्त और रौद्रध्यान के स्वामियों का कथन किया गया है। जैसे—

"**तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानां, हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश-विरतयोरिति** गुणस्थानमात्राश्रयणेनैव स्वामिनिर्देशकृतत्वात्।" (वि.टी./गाथा-'धम्मं' १६९४)।

प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलाल जी संघवी ने भी तत्त्वार्थसूत्र में बाईस परीषहों, चतुर्विध ध्यानों और गुणश्रेणी निर्जरा के स्वामित्व का कथन गुणस्थान के आश्रय से किया गया माना है। यह उनके पूर्वोद्धृत कथनों से स्पष्ट है।

गुणस्थाननियम के आश्रय से बन्ध और मोक्ष के कारणभूत परिणामों का सुसंगत कथन तब तक संभव नहीं है, जब तक गुणस्थाननियम आगमसिद्ध न हो और ग्रन्थकार को उसका परिपूर्ण ज्ञान न हो। तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा किया गया कथन अत्यन्त संगत है। इसीलिए सभी टीकाकारों ने उसका अनुसरण किया है और अन्य ग्रन्थकारों ने उसे प्रमाणरूप में उद्धृत किया है, जैसे अपराजितसूरि ने उपर्युक्त उद्धरण में। इससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना के समय गुणस्थाननियम आगमप्रसिद्ध था और तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता को उसका ज्ञान आचार्यपरम्परा से प्राप्त था। पता नहीं डॉ० सागरमल जी को तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थाननियम या गुणस्थान-सिद्धान्त के बीज ही क्यों दृष्टिगोचर हुए, चतुर्दश शाखाओं से समृद्ध इतना विशालवृक्ष उनकी दृष्टि में क्यों नहीं आया? अस्तु।

ये प्रमाण सिद्ध करते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र में न केवल चौदह गुणस्थानों की अवधारणा है, अपितु चौदह गुणस्थानों के आश्रय से बाईस परीषहों, चतुर्विध ध्यानों और गुणश्रेणिनिर्जरा के स्वामियों का कथन किया गया है, जिसका समर्थन श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनगणी तथा प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलाल जी संघवी की टीकाओं से भी होता है। अतः डॉ० सागरमल जी का यह कथन सर्वथा असत्य है कि "तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य (लगभग तीसरी-चौथी शती ई०) में गुणस्थान-सिद्धान्त का कोई उल्लेख नहीं है, इसलिए वह उस समय की रचना है जब गुणस्थानसिद्धान्त का विकास नहीं हुआ था।"

२.१४. तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-अवधारणा के सुदृढ़ प्रमाण

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा सुदृढ़-रूप में विद्यमान है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों के नाम निर्दिष्ट किये हैं, गुणस्थानों से सम्बन्धित उपशमक और क्षपक श्रेणियों तथा 'अनन्तवियोजक' एवं 'दर्शनमोहक्षपक' संज्ञाओं का उल्लेख किया है। विभिन्न सूत्रों में गुणस्थानानुसार परीषहों के पात्रों एवं चतुर्विध ध्यान के स्वामियों का प्ररूपण किया है। ये इस बात के प्रमाण हैं कि तत्त्वार्थसूत्रकार के सामने गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा पूर्णरूप में मौजूद थी।

यदि तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पहले गुणस्थान की अवधारणा न होती, तो तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दृष्टि, श्रावक (देशविरत), प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानवाचक संज्ञाओं का प्रयोग भी न हुआ होता, क्योंकि गुणस्थान-अवधारणा के अभाव में ये अस्तित्व में ही न आये होते। गुणस्थान की अवधारणा के अभाव में यह निर्णय भी

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

न हो पाता कि किन गुणस्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, किस गुणस्थान में कितने परीषह होते हैं और किस गुणस्थान में कौन सा ध्यान होता है? उक्त स्थिति में उपशमक, क्षपक, अनन्तवियोजक और दर्शनमोहक्षपक जैसे गुणस्थानसम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी संभव न होता। चारित्र के सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात भेदों की अवधारणा भी असंभव होती। यह भी निश्चित नहीं किया जा सकता था कि आहारकशरीर की प्राप्ति प्रमत्तसंयत को ही हो सकती है। गुणस्थानसम्बन्धी ये सूक्ष्म से सूक्ष्म सिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र में उपलब्ध हैं, अतः सिद्ध है कि गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा तत्त्वार्थसूत्रकार को अपनी गुरुपरम्परा से प्राप्त हुई थी, तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित नहीं हुई।

२.१५. तत्त्वार्थसूत्र की कर्मव्यवस्था से गुणस्थानव्यवस्था स्वतः सिद्ध

'तत्त्वार्थसूत्र' में जो कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय की व्यवस्था का, औदयिक आदि पाँचों भावों का, दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय की विभिन्न प्रकृतियों का एवं मिथ्यादर्शनादि पाँच बन्धहेतुओं का निर्देश किया गया है, उससे चौदह गुणस्थानों की व्यवस्था स्वतः सिद्ध होती है। कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय से प्रकट होनेवाली जीव की अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। कर्मों का उदय तो अनादिकाल से है, उपशम आदि मोक्ष के पौरुष से होते हैं। अतः मोक्ष-पौरुष से ज्यों-ज्यों कर्मों के उपशम आदि होते हैं, त्यों-त्यों सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थान अपने आप प्रकट होते हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने "**औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।**"(त.सू./२/१), इस सूत्र में जीव के पाँच भाव बतलाये हैं : औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। इनमें औदयिक भाव इक्कीस हैं, जिनमें मिथ्यादर्शन जीव में अनादिकाल से प्रकट है, जो पहला गुणस्थान है। "**सम्यक्त्वचारित्रे**" (त.सू./२/३) सूत्र में औपशमिक भावों के भेद बतलाये गये हैं। वे दो हैं : औपशमिक-सम्यक्त्व और औपशमिक-चारित्र। औपशमिक-सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के अप्रशस्त उपशम एवं अनन्तानुबन्धी कषाय के स्तिवुक-संक्रमण या विसंयोजना से प्रकट होता है, वह चतुर्थ गुणस्थान है। औपशमिक-चारित्र चारित्रमोहनीयकर्म के उपशम से प्रकट होता है। पूर्वापर-कारणकार्यभाव एवं कर्मप्रकृतियों के क्रमशः उपशम से उपशमचारित्रवाले गुणस्थान के चार भेद होते हैं : अपूर्वकरण-उपशमक, अनिवृत्ति-बादरसाम्पराय-उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक और उपशान्तमोह। इनमें से अन्तिम तीन का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रकार ने निम्नलिखित सूत्रों में किया है—"**बादरसाम्पराये सर्वे**" (९/१२), "**सूक्ष्मसाम्पराय-छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश**" (९/१०) एवं "**सामायिकच्छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम्**" (९/१८)। गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में भी 'उपशमक' संज्ञा द्वारा उपशमचारित्रवाले

प्रथम तीन गुणस्थानों का एवं 'उपशान्तमोह' शब्द द्वारा अन्तिम का निर्देश किया गया है।

अपूर्वकरण-गुणस्थान से सम्बन्धित कुछ कहने योग्य विषय-विशेष तत्त्वार्थसूत्रकार के मन में नहीं था, केवल परीषहों का वर्णन अपेक्षित था। यतः अपूर्वकरण भी स्थूलकषायात्मक है, अतः सभी स्थूलकषायकाले गुणस्थानों को 'बादरसाम्पराय' शब्द से अभिहित कर "**बादरसाम्पराये सर्वे**" सूत्र द्वारा अपूर्वकरणगुणस्थान में होनेवाले परीषहों का भी कथन कर दिया।

"**ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च**" (त.सू./२/४) इस सूत्र में वर्णित क्षायिकभावों में 'क्षायिकज्ञानदर्शन' पद 'सयोगिकेवली' और 'अयोगिकेवली' नामक तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों का संकेत करता है। "**मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्**" (त.सू./१०/१) सूत्र में स्पष्टरूप से कहा गया है कि मोहनीय कर्म का क्षय होने के बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय का एक साथ क्षय होने से केवलज्ञान अर्थात् 'सयोगिकेवली' और 'अयोगिकेवली' गुणस्थान प्रकट होते हैं।

उपर्युक्त क्षायिकभाव-प्रतिपादक सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द से क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र भी सूचित किये गये हैं, जो क्रमशः दर्शनमोह और चारित्रमोह के क्षय से आविर्भूत होते हैं। पूर्वापर-कारणकार्यभाव एवं कर्म प्रकृतियों के क्रमिक क्षय से क्षायिक- चारित्रवाले गुणस्थान के भी अपूर्वकरण-क्षपक, बादरसाम्पराय-क्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय-क्षपक तथा क्षीणमोह ये चार भेद होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में इनका निरूपण 'क्षपक' तथा क्षीणमोह शब्दों के द्वारा गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में हुआ है।

"**ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।**" (त.सू./ २/५) इस सूत्र में क्षायोपशमिकभावों का कथन किया गया है। इनमें क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान है, संयमासंयम पंचमगुणस्थान और क्षायोपशमिकचारित्र प्रमत्त-संयत एवं अप्रमत्तसंयत गुणस्थान।

"**दर्शनचारित्रमोहनीय---सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्यकषायकषायौ---अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान ---।**" (त.सू./८/९)। इत्यादि सूत्र में दर्शनमोह की सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व (तदुभय) ये तीन प्रकृतियाँ वर्णित हैं। जब उपशमसम्यक्त्व का काल समाप्त होने लगता है, तब यदि उपर्युक्त प्रकृतियों में से सम्यक्त्वप्रकृति का उदय होता है, तो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से जीव असंयत-सम्यग्दृष्टिगुणस्थान में ही बना रहता है। यदि मिथ्यात्वप्रकृति उदय में आती है, तो मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में गिर जाता है। अथवा सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का उदय आने पर सम्यग्मिथ्यादृष्टि-

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। यदि अनन्तानुबन्धी उदित हो जाती है, तो सासादनगुणस्थान में पहुँच जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गृध्रपिच्छाचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में जिस कर्मव्यवस्था का प्ररूपण किया है उससे चतुर्दश-गुणस्थान-व्यवस्था स्वतः सिद्ध होती है, अतः तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद उसके विकसित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह उतनी ही प्राचीन है, जितना तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित कर्मसिद्धान्त।

३
विकासवादविरोधी अनेक हेतु

गुणस्थानविकासवादी विद्वान् का कथन है कि "आध्यात्मिक विशुद्धि की 'सम्यग्दृष्टि' आदि दस अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थान-सिद्धान्त का तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकास हुआ है।" किन्तु यह सिद्ध हो चुका है कि उक्त दस अवस्थाएँ गुणस्थान ही हैं, अतः गुणस्थानसिद्धान्त के विकास की मान्यता निरस्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक हेतु हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि इस मान्यता के लिए स्थान ही नहीं है। पहले हेतु की उपलब्धि यह अनुसन्धान करने पर होती है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों का उपदेश कहाँ से प्राप्त हुआ?

३.१. श्वेताम्बरागमों में गुणश्रेणिनिर्जरा का उल्लेख नहीं

श्वेताम्बर-आगमों में गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों का उल्लेख उपलब्ध नहीं है, गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने यह स्वयं स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

"हम इस सम्बन्ध में अपनी खोज जारी रखे हुए थे कि तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित इन दस अवस्थाओं का आगमिक आधार क्या है और इन अवस्थाओं का प्राचीनतम उल्लेख किस ग्रन्थ में मिलता है? अपनी इस खोज के दौरान हमने श्वेताम्बरमान्य आगमसाहित्य का आलोडन किया, किन्तु उसमें हमें कहीं भी इन दस अवस्थाओं का उल्लेख प्राप्त नहीं हो सका। --- उसके बाद हमने प्राचीनतम आगमिक व्याख्याओं की दृष्टि से निर्युक्तियों का अध्ययन प्रारम्भ किया और संयोग से आचारांगनिर्युक्ति के 'सम्यक्त्व-पराक्रम' नामक चतुर्थ अध्याय की निर्युक्ति में इन दस अवस्थाओं का उल्लेख करनेवाली निम्नलिखित दो गाथाएँ उपलब्ध हुयीं—

सम्मत्तुप्पत्ती सावए य विरए अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवए उवसामंते य उवसंते॥ २२॥

खवए य खीणमोहे जिणे य सेढीभवे असंखिज्जा।
तव्विवरीओ कालो संखिज्जगुणाइ सेढीए॥ २३॥

आचारांगनिर्युक्ति-निर्युक्तिसंग्रह / पृ.४४१।

''यदि हम निर्युक्तिसाहित्य को तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा प्राचीन मानते हैं, तो हमें यह कहना होगा कि तत्त्वार्थसूत्र की इन दस अवस्थाओं का प्राचीनतम स्रोत आचारांगनिर्युक्ति ही है। यद्यपि आचारांगनिर्युक्ति में जिस स्थल पर ये गाथाएँ हैं, उसे देखते हुए ऐसा लगता है कि ये गाथाएँ मूलत: निर्युक्तिकार की नहीं हैं, अपितु पूर्वसाहित्य के किसी कर्मसिद्धांत-सम्बन्धी ग्रन्थ से इन गाथाओं को इसमें अवतरित किया गया है, क्योंकि 'सम्यक्त्व-पराक्रम' की चर्चा के प्रसंग में ये गाथाएँ बहुत अधिक प्रासंगिक नहीं लगती हैं। फिर भी गुणश्रेणी की अवधारणा का अभी तक जो प्राचीनतम स्रोत उपलब्ध है, वह तो यही है।''[१६७]

आचारांगनिर्युक्ति के कर्त्ता वराहमिहिर के भ्राता भद्रबाहु द्वितीय हैं, जिनका समय ईसा की छठी शताब्दी (वि० सं० ५६२) है। और पं० सुखलाल जी संघवी आदि श्वेताम्बर विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति का काल ईसा की तीसरी-चौथी शती माना है। अत: आचारांगनिर्युक्ति 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में वर्णित आध्यात्मिक विशुद्धि की दस अवस्थाओं का स्रोत नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त गाथाएँ आचारांगनिर्युक्ति की मौलिक गाथाएँ नहीं हैं। गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने उन्हें पूर्वसाहित्य के किसी कर्मसिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थ से अवतरित माना है। उन्होंने उस ग्रन्थ के साथ 'किसी' विशेषण का प्रयोग किया है, जिससे सिद्ध है कि उन्हें स्वयं नहीं मालूम कि वह कौन सा ग्रन्थ है? अर्थात् वर्तमान श्वेताम्बरसाहित्य में वह उपलब्ध नहीं है। और पूर्व श्वेताम्बरसाहित्य में ऐसा कोई ग्रन्थ था, इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए एक काल्पनिक ग्रन्थ को आचारांगनिर्युक्ति की उपर्युक्त गाथाओं का स्रोत नहीं माना जा सकता।

वस्तुत: वे गाथाएँ ईसापूर्व प्रथम शती में रचित दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम की गाथाएँ हैं, वहीं से आचारांगनिर्युक्ति में ग्रहण की गयी हैं, जिस प्रकार 'समवायांग' में चौदहगुणस्थानों के नाम षट्खण्डागम से लिये गये हैं।

३.२. तत्त्वार्थसूत्र के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र का स्रोत षट्खण्डागम

अभिप्राय यह कि गुणश्रेणिनिर्जरा के उपर्युक्त दस स्थानों की अवधारणा श्वेताम्बर-साहित्य में उपलब्ध नहीं है, अत: तत्वार्थसूत्रकार को वहाँ से प्राप्त नहीं हो सकती

---

१६७. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण / पृ.२०-२१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

थी। तथा वे स्वयं उसके जन्मदाता नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने न तो यह निर्देश किया है कि वे दस स्थान क्या हैं, किस चीज के भेद हैं, उनके 'सम्यग्दृष्टि' आदि नाम क्यों पड़े? न ही अनन्तवियोजक का क्या अर्थ है? उपशमक-क्षपक से क्या तात्पर्य है? इत्यादि का कोई स्पष्टीकरण किया है। यदि वे उन स्थानों के शिल्पी होते, तो इस सबका पूर्ण विवरण दिये बिना न रहते, क्योंकि उसके बिना इन दस स्थानों के वर्णन मात्र से पाठकों के पल्ले कुछ भी न पड़ता। तत्त्वार्थसूत्रकार ने यह सब नहीं किया, इससे सिद्ध है कि वे स्थान तत्त्वार्थसूत्रकार के मस्तिष्क की उपज नहीं हैं, अपितु उनकी अवधारणा उन्हें अपनी परम्परा के किसी प्राचीन ग्रन्थ से प्राप्त हुई है। वह प्राचीन ग्रन्थ है षट्खण्डागम। उसमें उक्त दस स्थानों का वर्णन निम्नलिखित गाथाओं में किया गया है—

सम्मत्तुप्पत्ती वि य सावय-विरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवए कसायउवसामए य उवसंते॥ ७॥

खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा।
तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणाए सेडीए॥ ८॥[१६८]

इन दो गाथाओं के अतिरिक्त इनके पश्चात् (ष.खं./ पु.१२/ ४,२,७ के) १७५वें सूत्र से लेकर १९६वें सूत्र तक 'जिन' नामक स्थान के 'स्वस्थानजिन' और 'योगनिरोध में प्रवृत्त जिन', इन दो भेदों सहित ग्यारह अवस्थाओं (गुणश्रेणियों) में होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जरा तथा उसके काल का कथन किया गया है।

षट्खण्डागम की रचना ईसापूर्व प्रथम शती में हुई थी (देखिए 'षट्खण्डागम' नामक ११वाँ अध्याय), जब कि तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल दिगम्बरमतानुसार प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० और श्वेताम्बरमतानुसार तीसरी-चौथी शती ई० है। अतः यह निर्विवाद है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में वर्णित दस निर्जरा-स्थानों की अवधारणा षट्खण्डागम से ग्रहण की है। इसी प्राचीन ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक विकास की चौदह अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं, जिन्हें 'जीवसमास' एवं 'गुणस्थान' शब्द से अभिहित किया गया है।[१६९] षट्खण्डागम में इन अवस्थाओं का विस्तार से परिचय दिया गया है, जिसमें यह भी बतलाया गया है कि ये किन कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षय से प्रकट होती हैं।[१७०]

---

१६८. षट्खण्डागम / पु.१२ / ४, २, ७ / प्रथम चूलिका / पृ.७८।
१६९. षट्खण्डागम / पु.१/१, १,९-२३।
१७०. वही / पु.७ / २, १, ४६-५५, ६८-८१।

इस प्रकार चूँकि गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों का उपदेश तत्त्वार्थसूत्रकार ने षट्खण्डागम से ग्रहण किया है और चतुर्दश गुणस्थानों का विवरण भी उसी षट्खण्डागम में उपलब्ध है, अतः सिद्ध है कि गुणस्थानसिद्धान्त का विकास तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद उक्त दस निर्जरास्थानों के आधार पर नहीं हुआ, अपितु वह जिनोपदिष्ट है।

३.३. भद्रबाहु-द्वितीय ही निर्युक्तियों के कर्त्ता

गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि तत्त्वार्थसूत्र के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र का स्रोत आचारांगनिर्युक्ति की पूर्वोक्त गाथाएँ हैं। किन्तु निर्युक्तियों के कर्त्ता भद्रबाहु-द्वितीय का अस्तित्वकाल ईसा की छठी शताब्दी है और तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल श्वेताम्बर विद्वान् ईसा की तीसरी-चौथी शती मानते हैं, अतः आचारांगनिर्युक्ति का तत्त्वार्थसूत्र के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र का स्रोत होना सिद्ध नहीं होता। उपर्युक्त प्रमाणों से षट्खण्डागम ही आचारांगनिर्युक्ति की उक्त गाथाओं एवं 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र का स्रोत साबित होता है। किन्तु गुणस्थानविकासवादी विद्वान् को यह स्वीकार्य नहीं हो सकता था, क्योंकि इससे दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम, तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन सिद्ध होता है, जो वे नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने इस सत्य को झुठलाने के लिए कोई न कोई युक्ति निकालने की कोशिश की और इस कोशिश में उन्होंने श्वेताम्बर-परम्परा के सर्वमान्य इतिहास को ही पलट देने का करिश्मा कर डाला। उन्होंने सारे प्रमाणों को ताक पर रखते हुए मिथ्या एवं बाल तर्कों से एक ऐसे व्यक्ति को निर्युक्तियों का कर्त्ता घोषित कर दिया, जो तत्त्वार्थसूत्रकार से सौ-सवा सौ वर्ष पहले हुए थे और जिनके नाम का अर्धांश भद्रबाहु के नाम के अर्धांश से मिलता है। वे व्यक्ति हैं **आर्यभद्र**। अपनी कपोलकल्पना को शब्दों के वस्त्र पहनाते हुए वे लिखते हैं—

"किन्तु निर्युक्तियों को वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु की कृतियाँ मानने में भी कई कठिनाइयाँ हैं। यदि हम यह मानते हैं कि ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी में होनेवाले भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई हैं, तो सबसे पहला प्रश्न यह उठेगा कि वी० नि० सं० ६०९ अर्थात् ईस्वी सन् द्वितीय शती में होनेवाले बोटिक निह्नव की चर्चा इसमें क्यों नहीं है? दूसरे, यह कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अन्त तक तो गुणस्थान की अवधारणा स्पष्ट रूप से आ गई थी, उनका अन्तर्भाव निर्युक्तियों में क्यों नहीं हो पाया, जब कि आचारांगनिर्युक्ति 'तत्त्वार्थ' के समान मात्र दस अवस्थाओं की ही चर्चा करती है, वह परवर्ती ग्यारह गुणश्रेणियों अथवा चौदह गुणस्थानों की चर्चा क्यों नहीं करती है? निर्युक्तियों में उपलब्ध विषयवस्तु की दृष्टि से हमें यही मानना होगा कि वे लगभग ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी की रचना हैं। पुनः वी० नि० सं० ५८५ तक होनेवाले निह्नवों के उल्लेख और वी० नि० सं० ६०९ में होनेवाले बोटिक शिवभूति

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के उल्लेख का अभाव यही सिद्ध करता है कि निर्युक्तियाँ वी० नि० सं० ६०९ (ई० सन् १४२) के पूर्व लिखी गई हैं। इस प्रकार वे ई० सन् की द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में लिखी गई हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या इस काल में कोई भद्रबाहु हुए हैं? हमने कल्पसूत्र की पट्टावली का अध्ययन करने पर यह पाया कि आर्य कृष्ण और आर्य शिवभूति, जिनके बीच सचेलता और अचेलता के प्रश्न को लेकर विवाद हुआ था और बोटिकसम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई थी, के समकालिक एक आर्यभद्र हुए हैं। ये आर्य शिवभूति के शिष्य थे, ये आर्य नक्षत्र एवं आर्य रक्षित से ज्येष्ठ थे और इनका काल ई० सन् की द्वितीय-तृतीय शताब्दी ही रहा है। अतः यह मानना होगा कि निर्युक्तियाँ इन्हीं आर्यभद्र की रचनाएँ हैं और आगे चलकर नामसाम्य और भद्रबाहु की प्रसिद्धि के कारण उनकी रचनाएँ मानी जाने लगीं। जिस प्रकार प्रबन्धों के लेखकों ने प्राचीन भद्रबाहु और वराहमिहिर के भद्रबाहु के कथानक मिला दिये हैं, उसी प्रकार निर्युक्तिकार आर्यभद्र से भद्रबाहु की एकरूपता कर ली गई है।" (गुण.सिद्धा.एक विश्ले./पृ.२२-२३)।

विरोधी तर्कों का निरसन

आचारांगनिर्युक्ति को द्वितीय शताब्दी ई० की रचना सिद्ध करने के लिए गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् ने जो हेतु बतलाये हैं, वे मिथ्या हैं, यह निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध होता है—

१. 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों के ही नामों का वर्णन है, यह पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है, अतः आचारांगनिर्युक्ति की गुणश्रेणिनिर्जरा-विषयक गाथाओं में भी गुणस्थानों के ही नामों का उल्लेख है, यह स्वतः सिद्ध है। उनमें आदि के तीन गुणस्थानों को छोड़कर शेष ग्यारह गुणस्थानों का शब्दतः और अर्थतः वर्णन है, क्योंकि उनमें ही गुणश्रेणिनिर्जरा होती है। इसके अतिरिक्त उनमें उपशमक और क्षपक श्रेणियों तथा 'अनन्तवियोजक' एवं 'दर्शनमोहक्षपक' के उल्लेख द्वारा गुणस्थानसिद्धान्त की सूक्ष्म जानकारी भी दी गयी है। अतः उक्त विद्वान् का यह कथन सत्य नहीं है कि निर्युक्तियाँ गुणस्थानसिद्धान्त की चर्चा नहीं करतीं। उनमें गुणस्थानसिद्धान्त पूर्णतः समाविष्ट है, इस सत्य को उक्त विद्वान् के अतिरिक्त सभी विद्वज्जन स्वीकार करते हैं। अतः निर्युक्तियों को पाँचवीं-छठी शताब्दी ई० के भद्रबाहु-द्वितीय की रचना मानने में बाधा नहीं आती।

२. भद्रबाहु-द्वितीय द्वारा रचित 'आवश्यकनिर्युक्ति' में स्पष्टतः कहा गया है कि रथवीरपुर में आठवें निह्नव की उत्पत्ति हुई थी। देखिए—

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सावत्थी उसभपुरं सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं।
पुरिमंतरंजि दसपुर रहवीरपुरं च नगराइं॥ ७८१॥

वृत्तिकार श्री हरिभद्र सूरि ने इस गाथा का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"श्रावस्ती ऋषभपुरं श्वेतविका मिथिला उल्लुकातीरं पुरमन्तरञ्जि दशपुरं रथवीरपुरं च नगराणि निह्नवानां यथायोग्यं प्रभवस्थानानि, वक्ष्यमाणभिन्नद्रव्यलिङ्ग-मिथ्यादृष्टि-बोटिक-प्रभवस्थान-रथवीरपुरोपन्यासो लाघवार्थ इति गाथार्थः।" (हारि. वृत्ति/आव.निर्यु./गा.७८१)।

अनुवाद—"श्रावस्ती, ऋषभपुर, श्वेतविका, मिथिला, उल्लुकातीर, अन्तरंजियापुरी, दशपुर और रथवीरपुर, ये नगर निह्नवों के यथायोग्य उत्पत्तिस्थान हैं। रथवीरपुर नामक नगर का उल्लेख आगे कहे जानेवाले बोटिक नामक भिन्नद्रव्यलिंगी मिथ्यामत का उत्पत्तिस्थान बतलाने के लिए किया गया है।"

इस प्रकार भद्रबाहु-द्वितीयकृत निर्युक्तियों में बोटिक-निह्नव का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है, अतः उक्त गुणस्थानविकासवादी विद्वान् का यह कथन भी मिथ्या है कि निर्युक्तियों में बोटिक-निह्नव की चर्चा नहीं है। निर्युक्तियों में बोटिक-निह्नव की चर्चा है, इसलिए उन्हें पाँचवीं शती ई० के भद्रबाहु-द्वितीय की कृति मानने में कोई बाधा नहीं है।

३. गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने निर्युक्तियों का रचनाकाल वीर निर्वाण संवत् ६०९ के पूर्व अर्थात् बोटिकमत की उत्पत्ति से पहले कल्पित किया है। मुनि श्री कल्याणविजय जी (श्र.भ.म./पृ.२००), श्री विजयेन्द्र सूरि, आचार्य श्री हस्तीमल जी (जै.ध.मौ.इ./भा.१/पृ.७७०) आदि सभी श्वेताम्बर मुनियों एवं सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री (जै.सा.इ./पू.पी./पृ.३३७), डॉ० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य (ती.म.आ.प./खं.१/पृ.२९१) आदि समस्त दिगम्बरविद्वानों ने भगवान् महावीर की निर्वाणतिथि ५२७ ई०पू० (विक्रमपूर्व ४७०) मानी है। अतः वीर नि० सं० ६०९, ईसवी सन् (६०९-५२७) ८२ में पड़ता है, न कि ई० सन् १४२ में, जैसा कि गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने आकलित किया है। अतः स्पष्ट है कि ई० सन् १४२ में हुए आर्यभद्र उक्त विद्वान् के द्वारा ई० सन् ८२ के पूर्व लिखित मानी गयी निर्युक्तियों के कर्त्ता नहीं हो सकते।

४. उक्त विद्वान् एक तरफ लिखते हैं कि निर्युक्तियों की रचना बोटिक शिवभूति से पूर्व उत्पन्न हुए आर्यभद्र ने की है, दूसरी तरफ कहते हैं कि आर्यभद्र बोटिक

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

शिवभूति के शिष्य थे। यहाँ तक कि उक्त विद्वान् ने आर्यभद्र को बोटिक शिवभूति का अनुयायी मानकर भद्रान्वय नाम की यापनीयशाखा का संस्थापक तक घोषित कर दिया है। वे लिखते हैं—

"विदिशा के उदयगिरि के अभिलेख (गुप्त संवत् १०६, वि० सं० ४२६) में पार्श्वनाथ की प्रतिमा को स्थापित करानेवाले ने अपने आप को आर्यकुल और भद्रान्वय के आचार्य गोशर्मा का शिष्य बताया है। इस अभिलेख के भद्रान्वय को यापनीयपरम्परा का पूर्व नाम माना जा सकता है। कल्पसूत्र-स्थविरावली में आर्य शिवभूति और आर्य कृष्ण, जिनके मध्य वस्त्रपात्र-विवाद हुआ था, के पश्चात् आर्यभद्र का नाम आता है। मेरी दृष्टि में इस शिलालेख में उल्लिखित आर्यकुल और भद्रान्वय का सम्बन्ध इन्हीं आर्यभद्र से हो सकता है। संभावना है कि काश्यपगोत्रीय आर्यभद्र, आर्य शिवभूति के पक्षधर रहे हों और उन्हें ही अग्रगण्य मानकर यह परम्परा अपने को आर्यकुल और भद्रान्वय की मानती हो। यह निश्चित है कि उत्तरभारत की यह अचेलपरम्परा जिसे हम बोटिक या यापनीय के नाम से जानते हैं, मथुरा से लेकर साँची तक अपना व्यापक प्रभाव रखती थी। संभावना यही है कि उत्तरभारत में अपने प्रारम्भिक काल में यह यापनीयपरम्परा आर्यकुल और भद्रान्वय के नाम से पहचानी जाती रही हो।" (जै.ध.या.स. / पृ.१९)।

अब उपर्युक्त विद्वान् की किस बात को सत्य माना जाय? आर्यभद्र बोटिकमत के प्रवर्तक शिवभूति के पूर्व हुए थे, इस बात को अथवा वे शिवभूति के शिष्य थे, इसको? आर्यभद्र बोटिक शिवभूति के पूर्व नहीं हुए थे, यह तो ऊपर सिद्ध हो चुका है और वे उसके शिष्य थे यह कल्पसूत्र की स्थविरावली कहती है। अब यदि आर्यभद्र को बोटिक शिवभूति का शिष्य और उसके द्वारा स्थापित यापनीयसंघ की भद्रान्वय शाखा का सूत्रधार मानते हुए निर्युक्तियों का कर्त्ता माना जाय तो समस्त श्वेताम्बरीय निर्युक्तियाँ यापनीय आचार्य द्वारा रचित सिद्ध होती हैं। और तब यह तर्क मिथ्या हो जाता है कि निर्युक्तियों में बोटिक निह्नव का उल्लेख न होने से वे छठी शताब्दी ई० के भद्रबाहु-द्वितीय द्वारा रचित नहीं मानी जा सकतीं, क्योंकि जो निर्युक्तियाँ बोटिक (गुणस्थानविकासवादी विद्वान् के मतानुसार यापनीय) आचार्य द्वारा ही रचित सिद्ध हो रही हों, उनमें बोटिक मत का उल्लेख न मानकर उसकी उत्पत्ति के पूर्व रचित मानी जायँ, इस जैसी हास्यापद चेष्टा और क्या हो सकती है?

स्पष्ट है कि गुणस्थानविकासवादी विद्वान् को, जो श्वेताम्बर हैं, बोटिक (यापनीय) मत के अनुयायी आर्यभद्र के द्वारा निर्युक्तियों के रचे जाने की बात स्वीकार्य नहीं हो सकती और उक्त आर्यभद्र के अलावा अन्य आर्यभद्र का उल्लेख किसी भी स्थविरावली

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

या पट्टावली में उपलब्ध नहीं है, अतः सिद्ध है कि निर्युक्तियों के कर्त्ता उक्त विद्वान् द्वारा ढूँढ़े हुए आर्यभद्र नहीं हैं, अपितु परम्परा से प्रसिद्ध भद्रबाहु-द्वितीय ही हैं।

इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है कि गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् निर्युक्तियों को बोटिकमत की उत्पत्ति के पूर्व रचित सिद्ध करने चले थे, किन्तु बोटिकमत के ही आचार्य द्वारा रचित सिद्ध कर बैठे।

५. यदि आर्यभद्र निर्युक्तियों के कर्त्ता होते, तो वे भी भद्रबाहु-द्वितीय के समान ही प्रसिद्ध होते, तब उनकी रचनाओं को भद्रबाहु की रचनाएँ मान लेने के भ्रम की गुंजाइश न रहती। इसी प्रकार यदि भद्रबाहु-द्वितीय निर्युक्तियों के कर्त्ता न होते तो, वे इतने प्रसिद्ध भी न होते कि लोग आर्यभद्र के स्थान में भद्रबाहु के नाम का प्रयोग करने लगते।

६. लोगों की भूल से गुणधर के स्थान में गणधर, गुणरत्न के स्थान में गुणयत्न और उमास्वाति के स्थान में उमास्वामी तो प्रचलित हो सकता है, किन्तु आर्यभद्र के स्थान में भद्रबाहु प्रचलित नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ केवल किसी मात्रा या अक्षर के परिवर्तन का सवाल नहीं है, अपितु एक पूरे शब्द के परिवर्तन का प्रश्न है, और वह भी 'आर्य' के स्थान में 'बाहु' जैसे सर्वथा विपरीत उच्चारणवाले शब्द का स्थापन और वह भी विरुद्ध स्थान में? इस प्रकार के परिवर्तन का कोई भाषा वैज्ञानिक कारण नहीं है, अतः उपर्युक्त परिवर्तन मानना अयुक्तिसंगत है।

इन प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध है कि गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने निर्युक्तियों को द्वितीय शताब्दी ई० में रचित सिद्ध करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे नितान्त अप्रामाणिक, अयुक्तिसंगत और हास्यास्पद हैं, अतः मिथ्या हैं। फलस्वरूप यह तथ्य यथावत् स्थित रहता है कि निर्युक्तियों के कर्त्ता छठी शताब्दी ई० में हुए भद्रबाहु-द्वितीय ही हैं। अतः यह बात भी निर्विवाद हो जाती है कि आचारांगनिर्युक्ति में उद्धृत गुणश्रेणिनिर्जराविषयक गाथाएँ भी षट्खण्डागम की ही गाथाएँ हैं।

३.४. मोक्षमार्ग चतुर्दशगुणस्थानों का अविनाभावी

चतुर्दश गुणस्थान मोक्षमार्गभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम की उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त अवस्थाएँ हैं। वीरसेन स्वामी ने इन्हें मोक्ष की सीढ़ियाँ कहा है— "**मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि।**" (धवला / ष.ख./ पु.१/१, १, २२ / पृ.२०१)। तथा श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने इनको 'मोक्ष की परम्परा' (मोक्ष का क्रमिक मार्ग) नाम दिया है। **ललितविस्तरा** के एक प्रकरण में सिद्धों को परम्परागत (क्रम से सिद्धि को प्राप्त) कहते हुए नमस्कार किया गया है। इस पर कोई प्रतिपक्षी कहता है—

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

नैकादिसङ्ख्याक्रमतो वित्तप्राप्तिर्नियोगतः।
दरिद्रराज्याप्तिसमा तद्वन्मुक्तिः क्वचिन्न किम्॥

अनुवाद—"ऐसा कोई नियम नहीं है कि धनप्राप्ति क्रमशः होती है। किसी दरिद्र को एक बार में भी राज्यप्राप्ति होती देखी जाती है। इसी प्रकार किसी को क्या बिना क्रम के अर्थात् सम्यग्दृष्टि, देशविरत, विरत आदि अवस्थाओं को प्राप्त किये बिना मुक्ति नहीं हो सकती?"

इसके उत्तर में श्री हरिभद्रसूरि लिखते हैं—"**इत्येतद्व्यपोहायाह–परम्परागतेभ्यः।**" अर्थात् इसी का निषेध करने के लिए तो मंगलगाथा में **परंपरागत** (क्रम से सिद्ध) कहा गया है। फिर वे **परम्परा** का अर्थ बतलाते हुए कहते हैं—"**परम्परया ज्ञान-दर्शनचारित्ररूपया** मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टि-विरताविरत-प्रमत्ताप्रमत्त-निवृत्त्यनिवृत्तिबादरसूक्ष्मोपशान्त-क्षीणमोह-सयोग्ययोगि-**गुणस्थान-भेदभिन्नया गताः परम्परागताः एतेभ्यः।**" (ललितविस्तरा/'सिद्धाणं'—गाथा १/पृ.३९४)।

यहाँ श्री हरिभद्रसूरि ने चतुर्दश गुणस्थानों को सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की उत्तरोत्तर विकसित अवस्था बतलाया है और उनके समूह को 'मोक्षपरम्परा' (मोक्ष का क्रमिक मार्ग) नाम देकर स्पष्ट किया है कि इन गुणस्थानों को प्राप्त हुए बिना मुक्ति संभव नहीं है। यतः मोक्षमार्ग चतुर्दश गुणस्थानों का अविनाभावी है, अतः गुणस्थानों की अवधारणा उतनी ही पुरानी है, जितनी मोक्षमार्ग की। इसलिए उसे ईसा की चौथी शताब्दी के बाद विकसित बतलाना एक महान् सत्य के अपलाप की हास्यास्पद चेष्टा है।

३.५. विकास का अर्थ : ऋषभादि में सम्यक्त्वादि की अनुत्पत्ति मानना

वीरसेन स्वामी ने जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भावों को गुणस्थान कहा है—"**औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिक-पारिणामिका इति गुणाः।**" (धवला/ष.ख./पु.१/१,१,८/पृ.१६२)। श्री केशववर्णी ने स्पष्ट किया है कि मिथ्यात्व से लेकर अयोगिकेवलित्व पर्यन्त जीव के चौदह परिणामविशेष गुणस्थान हैं—"**मिथ्यात्वादयोऽयोगिकेवलित्वपर्यन्ता जीवपरिणामविशेषास्त एव गुण-स्थानानीति प्रतिपादितम्।**" (जी.त.प्र./गो.जी./गा.८)। वे चौदह परिणामविशेष इस प्रकार हैं : मिथ्यादृष्टित्व, सासादन-सम्यग्दृष्टित्व, सम्यग्मिथ्यादृष्टित्व, असंयतसम्यग्दृष्टित्व, संयतासंयतत्व, प्रमत्त-संयतत्व, अप्रमत्तसंयतत्व, अपूर्वकरणत्व, अनिवृत्तिबादरसाम्परायत्व, सूक्ष्मसाम्परायत्व, उपशान्तमोहत्व, क्षीणकषायत्व, सयोगिकेवलित्व और अयोगिकेवलित्व।

इन चौदह परिणामोंवाले गुणस्थानसिद्धांत को यदि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल (श्वेताम्बरमतानुसार ईसा की तीसरी-चौथी शती) के बाद विकसित माना जाय, तो

यह मानना होगा कि जीवों में इन परिणामों की उत्पत्ति ईसा की तीसरी-चौथी शती के बाद से होनी शुरू हुई है, उसके पहले तक जीव में ये परिणाम उत्पन्न नहीं होते थे, अर्थात् ऋषभादि तीर्थंकरों के काल में न तो कोई जीव सम्यग्दृष्टि अवस्था को प्राप्त होता था, न देशविरत अवस्था को, न प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत आदि को। इन चौदह अवस्थाओं को प्राप्त हुए बिना ही वे मुक्त हो जाते थे। किन्तु ऐसा मानने का गुणस्थानविकासवादी विद्वान् के पास कोई आधार नहीं है। श्वेताम्बर-आगमों में इन चौदह गुणस्थानों का उल्लेख नहीं है, तो भी कोई जैन यह नहीं मान सकता कि ऋषभादि तीर्थंकर सम्यग्दृष्टि नहीं हुए थे, देशविरत (श्रावक) नहीं हुए थे, प्रमत्त-संयत-अप्रमत्तसंयत (मुनि) नहीं हुए थे, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-बादरसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली अवस्थाओं को प्राप्त नहीं हुए थे। यदि गुणस्थानविकासवादी विद्वान् यह मानते हैं कि ऋषभादि तीर्थंकर इन अवस्थाओं को प्राप्त होने के बाद ही मुक्त हुए थे, तो उन्हें यह मानना होगा कि गुणस्थानसिद्धान्त ऋषभादि तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट है। तत्त्वार्थसूत्र में इन सभी चौदह अवस्थाओं का वर्णन है, जिनके उदाहरण पूर्व में दिये जा चुके हैं और आगे भी द्रष्टव्य हैं। यह इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि जिनागम में गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा तत्त्वार्थ-सूत्र के रचनाकाल के पूर्व से विद्यमान थी, वह उसके रचनाकाल के बाद विकसित नहीं हुई।

४

गुणस्थानसिद्धान्त का कपोलकल्पित विकासक्रम

गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने ग्रन्थों में गुणस्थान के सभी भेदों का उल्लेख होने और न होने तथा उनके साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग किये जाने और न किये जाने के आधार पर गुणस्थानसिद्धान्त के क्रमिक विकास की कल्पना की है और तदनुसार ग्रन्थों के रचनाकालविषयक पूर्वापरत्व का निर्धारण किया है। 'जीवसमास' की भूमिका (पृ.V-X) में उन्होंने इस विकासक्रम को दो सारणियों में दर्शाया है और इसे 'गुणस्थान-सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकासक्रम' तथा 'गुणस्थान-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास' नामों से अभिहित किया है।

किन्तु यह गुणस्थानसिद्धान्त का **ऐतिहासिक विकासक्रम** नहीं, अपितु **कपोल-कल्पित विकासक्रम** है, क्योंकि विकासक्रम के निर्णायक सभी हेतु अप्रामाणिक हैं। यह नीचे लिखे हेतुओं से सिद्ध होता है।

१. किसी ग्रन्थ में गुणस्थान के सभी भेदों का उल्लेख न होना गुणस्थानसिद्धान्त के अविकसित होने का प्रमाण नहीं है, बल्कि इस बात का सबूत है कि ग्रन्थ के

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

प्रतिपाद्य विषय के अनुसार सभी भेदों का उल्लेख आवश्यक नहीं था। आचार्य कुन्दकुन्द ने **चारित्तपाहुड** में केवल 'देशविरत' गुणस्थान का उल्लेख किया है, क्योंकि वहाँ उन्हें श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन अपेक्षित था—

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ **देसविरदो** य॥ २२॥

बारस अणुवेक्खा में दान के प्रकरण में सम्यग्दृष्टि साधु (प्रमत्तसंयत), सम्यग्दृष्टिश्रावक (देशविरत) तथा अविरतसम्यग्दृष्टि का कथन आवश्यक था, इसलिए केवल उनका कथन किया गया है—

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण **संजदो** साहू।
सम्मादिट्ठी **सावय** मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ॥ १७॥

णिद्दिट्ठो जिणसमए **अविरदसम्मो** जहण्णपत्तो त्ति।
सम्मत्तरयणरहिदो अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो॥ १८॥

समयसार में कर्मबन्ध के कर्त्ता कौन हैं, यह बतलाने के लिए मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिजिन पर्यन्त तेरह गुणस्थानों का निर्देश किया गया है, क्योंकि ये तेरह गुणस्थान ही बन्ध के हेतु हैं। 'अयोगिजिन' नामक चौदहवें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाता है, अतः वह गुणस्थान बन्ध का हेतु नहीं है, इसलिए उसका उल्लेख नहीं किया गया। देखिए—

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा॥ १०९॥

तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु **तेरसवियप्पो**।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं॥ ११०॥

एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करंति कम्म णवि तेसिं वेदगो आदा॥ १११॥

गुणसण्णिदा दु एदे कम्म कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि॥ ११२॥ स.सा.।

किन्तु **भावपाहुड** में मुनियों के लिए भावलिंग ही मोक्षमार्ग में प्रधान है, यह उपदेश दिया गया है। भावलिंग के लिए सात तत्त्वों, नौ पदार्थों और चौदह गुणस्थानों का चिन्तन आवश्यक है। अतः वहाँ चौदहों गुणस्थानों का निर्देश किया गया है।

यथा—

सव्वविरओ वि भावहि णवयपयत्थाइं सत्त तच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी **चउदसगुण णामाइं**॥ ९५॥

इसके विपरीत प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय और शेष छह पाहुडों में न तो 'गुणस्थान' शब्द का उल्लेख है, न हि उसके किसी भेद की चर्चा, क्योंकि इन ग्रन्थों में ऐसे किसी भी विषय का प्रतिपादन नहीं किया गया है, जिसमें गुणस्थानविशेष का निर्देश आवश्यक हो।

अब क्या इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवचनसार आदि की रचना के समय गुणस्थानसिद्धान्त का तनिक भी विकास नहीं हुआ था, चारित्तपाहुड के रचनाकाल में कुछ विकास हो गया था, बारस अणुवेक्खा की रचना के अवसर पर वह कुछ और विकसित हो गया था, समयसार के रचनाकाल में विकसित होते-होते तेरह अंगोंवाला हो गया और भावपाहुड की रचना के समय पूर्ण विकसित होकर चौदह अंगों से समन्वित हो गया? ऐसा कदापि सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ऐसा सिद्ध होने पर तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल बारस अणुवेक्खा के पश्चात् एवं समयसार के पूर्व सिद्ध होगा, क्योंकि उसमें बारसअणुवेक्खा से अधिक और समयसार से कम नौ गुणस्थान-भेदों का शब्दतः उल्लेख है। तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा में (जो कि तत्त्वार्थसूत्र के बाद की कृति है) गुणश्रेणी-निर्जरा के दस स्थानों का (गा.१०६-१०८), श्रावक, प्रमत्तविरत (गा.१९६), अविरत-सम्यग्दृष्टि (गा.१९७), क्षीणकषाय (गा. ४८५), सयोगिजिन (गा.४८६) और अयोगिजिन (गा. ४८७) गुणस्थानों का तथा उपशमक और क्षपक श्रेणियों (गा.४८४) का वर्णन है, किन्तु अप्रमत्तविरत, सासादन तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि का कथन न होने से केवल ग्यारह गुणस्थानों के उल्लेख के कारण समयसार के पूर्व की और बारस अणुवेक्खा के पश्चात् की तथा तत्त्वार्थसूत्र के समकाल की रचना सिद्ध होगी और जोइन्दुदेवकृत परमात्मप्रकाश एवं योगसार, जो कि छठी शती ई० की रचनाएँ हैं, तत्त्वार्थसूत्र से भी पूर्ववर्ती सिद्ध होंगे, क्योंकि उनमें और भी कम (प.प्र.१/ ७६,७७ एवं २ / ४१, योगसार/ १७, ८८) गुणस्थानों का निर्देश है। तथा जिस ग्रन्थ में जिस गुणस्थान का उल्लेख नहीं है, वह गुणस्थान उसके कर्त्ता द्वारा विकसित नहीं माना जायेगा, बल्कि जिस ग्रन्थ में उल्लेख है, उसके कर्त्ता द्वारा विकसित माना जायेगा। अब यदि उसका उल्लेख अनेक ग्रन्थों में है, तो उसे उन सब के द्वारा विकसित मानना होगा और तब वे सब ग्रन्थकार समकालीन सिद्ध होंगे।

इन अतर्कसंगत एवं इतिहास-विरुद्ध परिणामों का जनक होने से गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् का गुणस्थान-विकास के निर्णयार्थ निर्धारित किया गया यह हेतु

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अप्रामाणिक है कि तत्त्वार्थसूत्र, कसायपाहुड, षट्खण्डागम और समयसारादि में क्रमशः अधिक-अधिक गुणस्थानों का निर्देश है, अतः इन ग्रन्थों में गुणस्थानसिद्धान्त का क्रमशः विकास हुआ है, इसलिये ये उत्तरोत्तर अर्वाचीन हैं। 'चारित्तपाहुड' आदि ग्रन्थों के उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र, कसायपाहुड, षट्खण्डागम और समयसार आदि में जो अल्प या अधिक गुणस्थानों का निर्देश हुआ है, उसका कारण ग्रन्थ में ऐसे प्रतिपाद्य विषय का चुना जाना है, जिसने अल्प या अधिक गुणस्थानों के निर्देश का अवसर दिया है, गुणस्थानसिद्धान्त का अविकसित होना कारण नहीं है। जिन गुणस्थानों के निर्देश का जहाँ अवसर ही नहीं है, वहाँ उनका निर्देश करना अविवेकपूर्ण कार्य है, जिसकी अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्रकार जैसे महान् आचार्यों से नहीं की जा सकती।

२. **किसी ग्रन्थ में गुणस्थानभेदों के साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग न होना उनके गुणस्थान न होने का प्रमाण नहीं है, अपितु 'गुणस्थान' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता न होने का प्रमाण है,** क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत आदि शब्दों के अर्थ से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये गुणस्थानभेद हैं। आगम में ये शब्द गुणस्थानों के लिए ही प्रसिद्ध हैं, किसी अन्य पदार्थ के लिए नहीं। ये गुणस्थान ही हैं, इसे सिद्ध करने वाले अनेक शास्त्रीय प्रमाण हैं। ये गुणस्थान नहीं हैं, इसे सिद्ध करनेवाला एक भी शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। इस प्रकार आगम में गुणस्थानविशेष के रूप में प्रसिद्ध होने के कारण ही 'अविरत', 'देशविरत', 'प्रमत्तसंयत' आदि के साथ गुणस्थान शब्द का प्रयोग आवश्यक नहीं है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्तपाहुड में 'देशविरत' के साथ और बारस अणुवेक्खा में 'अविरतसम्यग्दृष्टि' के साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग नहीं किया।

मूलाचार की निम्नलिखित गाथाओं में भी 'उपशान्तकषाय', 'क्षीणकषाय', 'सयोगिकेवली' और 'अयोगिकेवली' इन गुणस्थानविशेषों के साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग नहीं है—

> **उवसंतो** दु पुहुत्तं झायदि झाणं विदक्कवीचारं।
> **खीणकसाओ** झायदि एयत्तविदक्कवीचारं॥ ४०४॥
>
> सुहुमकिरियं **सजोगी** झायदि झाणं च तदियसुक्कं तु।
> जं **केवली अजोगी** झायदि झाणं समुच्छिण्णं॥ ४०५॥

'कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा' में तो 'गुणस्थान' शब्द का स्वतंत्र रूप से भी कहीं उल्लेख नहीं है और उसकी नीचे उद्धृत गाथाओं में भी श्रावक, प्रमत्तविरत, 'अविरतसम्यग्दृष्टि', 'क्षीणकषाय', 'सयोगिजिन' और 'अयोगिजिन' ये गुणस्थानभेद 'गुणस्थान' शब्द से रहित हैं—

सावयगुणेहिं जुत्ता **पमत्तविरदा** य मज्झिमा होंति ॥ १९६॥
अविरयसम्मादिट्ठी होंति जहण्णा जिणिंदपयभत्ता॥ १९७॥
णीसेसमोहविलए **खीणकसाए** य अंतिमे काले ॥ ४८५॥
जं झायदि **सजोगिजिणो** तं तिदियं सुहुमकिरियं च॥ ४८६॥
जं झायदि **अजोगिजिणो** णिक्किरियं तं चउत्थं च ॥ ४८७॥

ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि तत्त्वार्थसूत्र में 'अविरत', 'देशविरत', 'प्रमत्तसंयत' आदि शब्दों के साथ गुणस्थान शब्द का प्रयोग न होने से उनका गुणस्थान होना असिद्ध नहीं होता। अतः 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग न होने के कारण तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त की अनुपस्थिति मानना प्रत्यक्ष-प्रमाण के विरुद्ध है। इसलिए गुणस्थान का ऐतिहासिक विकासक्रम भी कपोलकल्पित है।

३. आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की पूर्वोद्धृत ११०वीं गाथा में तथा भावपाहुड की पूर्वोक्त ९७वीं गाथा में क्रमशः गुणस्थानों की तेरह एवं चौदह संख्या का उल्लेख किया है और जीवसमास तथा गुणस्थान शब्दों का भी प्रयोग किया है, किन्तु गुणस्थानों के चौदह नामों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इससे सिद्ध है कि गुणस्थानों के चौदह नाम और 'गुणस्थान' शब्द पूर्व-प्रसिद्ध थे, इसीलिए उन्होंने उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा। इस तथ्य से भी गुणस्थानसिद्धान्त का ऐतिहासिक विकासक्रम अनैतिहासिक सिद्ध होता है।

४. गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने गुणस्थान का ऐतिहासिक विकासक्रम (गुण-स्थान-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास) दर्शानेवाली सारणी क्र.१ (जीवसमास/भूमिका / पृ.VIII) में तत्त्वार्थसूत्र में अप्रमत्तसंयत एवं अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थानों का अभाव बतलाया है, जब कि **आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य** (त.सू.—श्वे.९ / ३७) तथा **बादरसम्पराये सर्वे** (त.सू.—श्वे.९ / १२) इन सूत्रों में उनका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थान का भी तत्त्वार्थसूत्र (९ / १०—दि., श्वे.) में उल्लेख है, किन्तु सारिणी में उसका उल्लेख नहीं बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उपशमक और उपशान्तमोह तथा क्षपक और क्षीणमोह इन शब्दों के प्रयोग से ही सिद्ध है कि उपशमकश्रेणी पर आरूढ़ होकर ही जीव उपशान्तमोह गुणस्थान को तथा क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर क्षीणमोहगुणस्थान को प्राप्त होता है। तथा उपशान्तमोह को क्षपक और क्षीणमोह से अल्प-गुणश्रेणिनिर्जरावाला बतलाया गया है, इससे स्पष्ट है कि वह 'जिन' अवस्था को प्राप्त नहीं होता अतः उसका उपशमकश्रेणि से उतरना स्वतः सिद्ध है। तथापि उक्त विद्वान् ने तत्त्वार्थसूत्र

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

में इन श्रेणियों तथा इन पर आरोहण-अवरोहण के उल्लेख का अभाव बतलाया है। इन कारणों से भी विकासक्रम दर्शानेवाली सारिणी अप्रामाणिक है।

५. सारिणी में जो विवरण दिया गया है, उसके अनुसार कुन्दकुन्द-साहित्य में तो गुणस्थानसिद्धान्त-सम्बन्धी विषय अत्यल्प ही उपलब्ध होता है। उसमें न तो गुणस्थानों के सभी नाम हैं (कुल छह नाम हैं), न गुणश्रेणिनिर्जरा की दस अवस्थाएँ वर्णित हैं, न उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी का उल्लेख है और न 'अनन्तवियोजक' और 'दर्शनमोहक्षपक' शब्दों का प्रयोग है।

इसके विपरीत तत्त्वार्थसूत्र में नौ गुणस्थानों के नाम शब्दतः और पाँच के नाम अर्थतः मिलते हैं। उपशमक और क्षपक शब्दों के उल्लेख से उपशमकश्रेणी और क्षपक-श्रेणी का संकेत मिलता है। गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों का निर्देश प्राप्त होता है। अनन्तवियोजक और दर्शनमोहक्षपक की चर्चा उपलब्ध होती है। विभिन्न गुणस्थानों में चतुर्विधध्यान एवं बाईस परीषहों के स्वामित्व का कथन दृष्टिगत होता है। यह विवरण इतना अधिक है कि कुन्दकुन्दसाहित्य की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-सिद्धान्त अत्यधिक विकसितरूप में उपलब्ध होता है। अतः गुणस्थानविकासवादी विद्वान् के निर्णायकहेतुओं के अनुसार कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार से बहुत पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। फलस्वरूप उन्हें सारिणी में चौथे स्थान पर प्रदर्शित किया जाना दोषपूर्ण है।

६. गुणस्थानसिद्धान्त का उद्भव और विकास दर्शानेवाली सारिणी में तत्त्वार्थसूत्र को पहले स्थान पर रखा गया है और कसायपाहुड, षट्खण्डागम एवं समयसारादि को क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे स्थान पर। इससे ध्वनित होता है कि गुणस्थानसिद्धान्त का उद्भव तत्त्वार्थसूत्र में हुआ है और विकास क्रमशः कसायपाहुड आदि में। इसका तात्पर्य यह है कि गुणस्थानविकासवादी विद्वान् के अनुसार गुणस्थान-सिद्धान्त की आधारभूत सामग्री (गुणश्रेणि-निर्जरा के दस स्थान) तत्त्वार्थसूत्रकार ने कल्पित की है, जिनोपदिष्ट नहीं है। किन्तु इसकी पुष्टि किसी प्रमाण से नहीं होती। इसके विपरीत तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र) की बाईसवीं सम्बन्धकारिका में कहा गया है कि 'तत्त्वार्थाधिगम' नामक यह ग्रन्थ संग्रहग्रन्थ है और अर्हद्वचन का अंश है—

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं **सङ्ग्रहं लघुग्रन्थम्**।
वक्ष्यामि **शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य**॥ २२॥

इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित गुणनिर्जरा के दस स्थान तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा कल्पित नहीं हैं, अपितु जिनेन्द्रदेव के उपदेश का अंग हैं और किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ से संगृहीत किये गये हैं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

श्वेताम्बरग्रन्थ **जीवसमास** में भी, जिसकी भूमिका गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने स्वयं लिखी है, कहा गया है कि चौबीसों तीर्थंकर चौदह गुणस्थानों के ज्ञाता हैं—

दस चोद्दस य **जिणवरे चोद्दस गुणजाणए** नमंसिता।
चोद्दस जीवसमासे समासओऽणुक्कमिस्सामि॥ १॥

इन प्रमाणों से गुणस्थानविकासवादी विद्वान् की यह मान्यता अप्रामाणिक सिद्ध हो जाती है कि गुणस्थानसिद्धान्त के आधारभूत गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों की कल्पना तत्त्वार्थसूत्रकार ने की है। और इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वे जिनोपदेश पर आधारित किसी पूर्वकालीन ग्रन्थ से ग्रहण किये गये हैं। इस प्रकार गुणस्थानसिद्धान्त के उद्भव की ही कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है, तब विकास की कल्पना के लिए कोई अवकाश ढूँढ़े भी नहीं मिलता।

अब प्रश्न उठता है कि वह पूर्वकालीन ग्रन्थ कौन है, जिससे तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणश्रेणीनिर्जरा के दस स्थान संगृहीत किये हैं? इस प्रश्न का उत्तर सप्रमाण इसी प्रकरण में पूर्व में दिया जा चुका है। वह यह कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने उन्हें दिगम्बरपरम्परा के महान् ग्रन्थ षट्खण्डागम से ग्रहण किया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि षट्खण्डागम, तत्त्वार्थसूत्र से पूर्वकालीन है, अतः उसे उद्भव-विकासवाली सारिणी में तीसरे क्रम पर रखा जाना अप्रामाणिक है।

७. सारिणी में तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल तीसरी-चौथी शती ई०, कसायपाहुड का चौथी शती ई०, षट्खण्डागम का पाँचवी-छठी शती ई० तथा समयसार-नियमसार आदि का छठी शती ई० से भी पश्चात् का बतलाया गया है, ये काल प्रमाणसिद्ध नहीं है। इसी अध्याय के प्रथम प्रकरण में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि आचार्य कुन्दकुन्द का समय ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी है और तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी। इसी प्रकार कसायपाहुड और षट्खण्डागम क्रमशः ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी एवं ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में रचे गये थे, इसका सप्रमाण प्रतिपादन इन्हीं-नामवाले अध्यायों में द्रष्टव्य है।

इस तरह गुणस्थान-सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकासक्रम को निर्धारित करनेवाले सभी हेतु अप्रामाणिक हैं, अतः वह ऐतिहासिक विकासक्रम नहीं, अपितु कपोलकल्पित विकासक्रम है।

५
डॉक्टर सा० के मत में किंचित् परिवर्तन

डॉ० सागरमल जी के द्वारा 'जैनधर्म का यापनीयसम्प्रदाय' (ई० सन् १९९६) एवं 'गुणस्थानसिद्धान्त : एक विश्लेषण' (ई० सन् १९९६) ग्रन्थों के लिखे जाने के

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

९ वर्ष बाद उनके निर्देशन में माननीया श्वेताम्बर साध्वी डॉ० दर्शनकलाश्री जी ने **'प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा'** विषय पर शोधप्रबन्ध लिखा, जिस पर उन्हें ई० सन् २००५ में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। उनका शोधप्रबन्ध श्री राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, जयन्तसेन म्यूजियम, मोहनखेड़ा (राजगढ़) धार, म.प्र. द्वारा ई० सन् २००७ में प्रकाशित हुआ है। मेरे इस ग्रन्थ का जब अन्तिम लिपि-संशोधन चल रहा था, तब मुझे उक्त शोधग्रन्थ की प्रति प्राप्त हुई। मैंने उसका अध्ययन किया और पाया कि साध्वी जी भी इस निष्कर्ष पर पहुँची हैं कि यद्यपि श्वेताम्बर-आगमसाहित्य में गुणस्थानों के नाम-सदृश अनेक शब्द मिलते हैं, तथापि उनका गुणस्थानसिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् श्वेताम्बर-आगमसाहित्य में गुणस्थान-सिद्धान्त का अभाव है। साध्वी जी के शोधग्रन्थ के प्राक्कथन में डॉ० सागरमल जी ने अपने गुणस्थानसिद्धान्त-विषयक मत में कुछ परिवर्तन होने की बात स्वीकार की है। उसकी भी समीक्षा मुझे आवश्यक प्रतीत हुई, जिसका समावेश यहाँ कर रहा हूँ। 'प्राक्कथन' में डॉक्टर सा० साध्वी जी के शोधकार्य की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

''सम्भवतः ऐतिहासिक एवं शोधपरक दृष्टि से गुणस्थानसिद्धान्त पर अब तक लिखे गये ग्रन्थों में यह कृति अपना सर्वोपरि स्थान सिद्ध करेगी। यद्यपि इस कृति की रचना में मेरा मार्गदर्शन और सहयोग रहा है, किन्तु साध्वी जी का श्रम भी कम मूल्यवान् नहीं है। उपलब्ध सन्दर्भों को खोज निकालने में उन्होंने जैनसाहित्य का गंभीरता से आलोडन-विलोडन किया। यही नहीं, उनके इस आलोडन और विलोडन के परिणामस्वरूप जो तथ्य सामने आये, उनके आधार पर मुझे भी अपनी पूर्वस्थापनाओं को किंचित् रूप में परिमार्जित करना पड़ा।

''मेरी अपनी अवधारणा यही थी कि गुणस्थानसिद्धान्त की प्रतिस्थापना लगभग ५वीं शताब्दी में हुई। यद्यपि एक सुव्यवस्थित गुणस्थान-सिद्धान्त के विकास के रूप में मेरी यह स्थापना आज भी अडिग है। किन्तु मेरी दृष्टि में गुणस्थानसिद्धान्त के विकास का मूल आधार आचारांग-निर्युक्ति में, तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय में एवं षट्खण्डागम के कृति-अनुयोगद्वार के परिशिष्ट में वर्णित कर्मनिर्जरा की उत्तरोत्तर वर्धमान दस अवस्थाएँ रही हैं। पूर्व में मेरी यही मान्यता थी कि इन दस अवस्थाओं से ही चौदह गुणस्थानों का सिद्धान्त विकसित हुआ है। किन्तु प्रस्तुत शोधकार्य के सन्दर्भ में जब हमने श्वेताम्बरमान्य अर्धमागधी आगमसाहित्य का गम्भीरता से आलोडन-विलोडन किया, तो हमें उसमें भगवतीसूत्र एवं प्रज्ञापनासूत्र में विविध सन्दर्भों में मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरत, विरताविरत और विरत, निवृत्ति-बादर, अनिवृत्ति-बादर और सूक्ष्मसम्पराय, मोह-उपशमक एवं मोहक्षपक तथा सयोगी केवली,

और अयोगी केवली, ऐसी तेरह अवस्थाओं के उल्लेख मिल गये। यद्यपि ये सब उल्लेख अलग-अलग सन्दर्भों में ही हुए हैं और किसी एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त को प्रस्तुत नहीं करते हैं। इस आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रथमतः गुणस्थानसिद्धान्त के मूल बीज श्वेताम्बर-आगमसाहित्य में ही रहे हुए हैं और उन्हीं के आधार पर आचारांगनिर्युक्ति, तत्त्वार्थसूत्र, षट्खण्डागम आदि में उत्तरोत्तर कर्मनिर्जरा की दस अवस्थाओं का विकास हुआ है। जहाँ तक गुणस्थानसिद्धान्त के सुव्यस्थित उल्लेख का प्रश्न है, श्वेताम्बरपरम्परा में वह सर्वप्रथम जीवसमास, आवश्यकचूर्णि तथा तत्त्वार्थसूत्र की सिद्धसेनगणी की टीका में ही मिलता है।

"इनमें से जीवसमास लगभग पाँचवीं शती का है, शेष दोनों ही ग्रन्थ लगभग सातवीं शताब्दी के हैं। दिगम्बरपरम्परा में गुणस्थानसिद्धान्त-सम्बन्धी सर्वप्रथम उल्लेख षट्खण्डागम और पूज्यपाद देवनन्दी की तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में मिलता है, ये दोनों ग्रन्थ पाँचवीं शती के उत्तरार्ध या छठवीं शती के प्रारम्भ के हैं। इससे स्पष्ट रूप से यह भी फलित होता है कि गुणस्थानसिद्धान्त व्यवस्थित रूप में पाँचवी शती के बाद ही अस्तित्व में आया है, अन्यथा श्वेताम्बर-आगमसाहित्य और तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य में एवं निर्युक्ति और भाष्य-साहित्य में कहीं तो कुछ संकेत अश्वय मिलते। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि गुणस्थानसिद्धान्त का प्रारम्भिक व्यवस्थित स्वरूप श्वेताम्बरसाहित्य की अपेक्षा दिगम्बरसाहित्य में पहले पाया जाता है और श्वेताम्बर आचार्यों की अपेक्षा दिगम्बर आचार्यों का अवदान इस सिद्धान्त के विकास में अधिक महत्त्वपूर्ण है।

"मेरी दृष्टि में यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके स्वोपज्ञभाष्य में, वल्लभी-वाचना (५वीं शती) में अर्धमागधी आगमों का जो पाठ निर्धारण हुआ था, उसमें तथा अर्धमागधी आगमों की निर्युक्तियों एवं भाष्यों में गुणस्थानसिद्धान्त की कहीं भी कोई व्यवस्थित चर्चा उपलब्ध नहीं है, मात्र कुछ अवस्थाओं के यत्र-तत्र कुछ संकेत हैं। यदि ये आचार्य उससे परिचित होते, तो कहीं न कहीं उसका उल्लेख अवश्य करते। समवायांगसूत्र के १४ वें समवाय की जिस गाथा में जीवस्थान के नाम से तथा आवश्यकनिर्युक्ति में जो १४ गुणस्थानों के नाम आये हैं, वे गाथाएँ परवर्ती प्रक्षेप हैं और संग्रहणीसूत्र से उद्धृत हैं। क्योंकि आठवीं शती में हरिभद्र ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में उसे संग्रहणी-गाथा कहा है।" (पृ. २-३)।

यहाँ नयी बात यह है कि डॉक्टर सा० ने जहाँ अपने उपर्युक्त दो ग्रन्थों में और 'जीवसमास' की भूमिका में गुणस्थान-सिद्धान्त का विकास तत्त्वार्थसूत्र (९/४५)

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

में वर्णित गुणश्रेणिनिर्जरा की दस अवस्थाओं के आधार पर माना है (देखिये, इसी प्रकरण का शीर्षक १), वहाँ अब वे श्वेताम्बर-आगम भगवतीसूत्र एवं प्रज्ञापनासूत्र में मोक्षमार्ग से असम्बद्ध मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरत, विरताविरत आदि तेरह अवस्थाओं का यहाँ-वहाँ उल्लेख प्राप्त होने से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'गुणस्थानसिद्धान्त के बीज प्रथमतः श्वेताम्बर आगमसाहित्य में ही रहे हैं और उन्हीं के आधार पर आचारांग-निर्युक्ति, तत्त्वार्थसूत्र, षट्खण्डागम आदि में कर्मनिर्जरा (गुणश्रेणिनिर्जरा) की दस अवस्थाओं का और उनके आधार पर गुणस्थानसिद्धान्त का विकास हुआ है।' यह निष्कर्ष सर्वथा कपोलकल्पित है। इसका निरसन नीचे किया जा रहा है।

निरसन

१. जैसा कि पूर्व में कहा गया है, गुणस्थानसिद्धान्त के विकास की अवधारणा ही मिथ्या है। इसे पुनः समझने के लिए गुणस्थानसिद्धान्त किसे कहते हैं, इस पर पुनः दृष्टिपात कर लिया जाय। वीरसेन स्वामी ने मोक्ष के सोपानों को गुणस्थान कहा है। अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की उत्तरोत्तर विकसित अवस्थाओं का नाम गुणस्थान है। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि ने ज्ञानदर्शनचारित्ररूप परम्परा को 'गुणस्थान' शब्द से अभिहित किया है। (देखिये, इसी प्रकरण का पूर्व शीर्षक २.४)। श्वेताम्बरीय 'कर्मग्रन्थ' के द्वितीय कर्मग्रन्थ की टीका में कहा गया है—

"तत्र गुणा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानं पुनरत्र तेषां शुद्धिविशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदाः, तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा। गुणानां स्थानं गुणस्थानम्।" (अभिधानराजेन्द्र कोष / भा.३ / पृ.९१४)।

अनुवाद— "जीव के ज्ञानदर्शनारित्ररूप स्वभावविशेष गुण कहलाते हैं। उनकी शुद्धि और विशुद्धि के प्रकर्ष और अपकर्ष से जनित स्वरूपभेदों का नाम **स्थान** है, क्योंकि इसमें गुण स्थित रहते हैं। गुणों का स्थान गुणस्थान है।"

श्वेताम्बरग्रन्थ **प्रवचनसारोद्धार** (द्वार ९०) में गुणस्थान की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—**"परमपदप्रासादशिखरारोहणसोपानकल्पानि गुणस्थानानि।"** (अभि. रा. कोष / भा.३ / पृ.९१३)। अर्थात् जो परमपद-रूप (सिद्धपदरूप) प्रासाद (महल) के शिखर पर आरोहण के लिए सोपान के समान होते हैं, वे गुणस्थान कहलाते हैं।

इन परिभाषाओं का सार यह है कि मोक्षमार्गभूत रत्नत्रय (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र) के क्रमिक विकास की चौदह अवस्थाओं का नाम गुणस्थान है। यह अविरतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह आदि संज्ञाओं से स्पष्ट

है। ये घाती कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय तथा योगप्रवृत्ति एवं योगनिरोध से प्रकट होती हैं और विभिन्न कर्मप्रकृतियों के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, उपशम एवं क्षय का कारण हैं। साथ ही इनमें से विशिष्ट अवस्थाओं में विशिष्ट सम्यक्त्व, व्रत, तप, चारित्र, ध्यान, परीषह, लेश्या आदि परिणाम संभव होते हैं। इस जिनोपदेश को गुणस्थान-सिद्धान्त कहते हैं।

यदि इस सिद्धान्त को जिनोपदिष्ट न माना जाय, अपितु छद्मस्थ-अनाप्त द्वारा विकसित माना जाय, तो यह सर्वज्ञ के ज्ञान पर आधारित सिद्ध न होने से कपोलकल्पित सिद्ध होगा। इससे अर्हद्वचनैकदेशरूप तत्त्वार्थसूत्र के छद्मस्थ-अनाप्त-वचनैकदेश होने का प्रसंग आयेगा। उदाहरणार्थ, तत्त्वार्थसूत्र (दि.—९/४५, श्वे.— ९/४७) में सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत (प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत), उपशमक (अपूर्वकरणोपशमक, अनिवृत्ति-बादरसाम्परायोपशमक एवं सूक्ष्मसाम्परायोपशमक), उपशान्तमोह, क्षपक (अपूर्वकरण-क्षपक, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय-क्षपक और सूक्ष्मसाम्परायक्षपक), क्षीणमोह एवं जिन (सयोगिजिन, एवं अयोगिजिन), इन अवस्थाओं में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा बतलायी गयी है, जिससे सिद्ध होता है कि ये मोक्षमार्गभूत रत्नत्रय के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ हैं, अत एव रत्नत्रय के क्रमिक विकास के धर्म (गुण) से अर्थात् गुणस्थानभाव से युक्त होने के कारण गुणस्थान हैं। यदि गुणस्थानसिद्धान्त (गुणस्थानभाव) को छद्मस्थ-अनाप्त द्वारा कल्पित माना जायेगा, तो तत्त्वार्थसूत्र का यह गुणश्रेणिनिर्जरा-सिद्धान्त भी छद्मस्थ-अनाप्त द्वारा कल्पित सिद्ध होगा, जिससे उमास्वाति ने जो तत्त्वार्थसूत्र (श्वेताम्बरमान्य) की बाईसवीं सम्बन्धकारिका में तत्त्वार्थसूत्र को अर्हद्वचन का एकदेश कहा है (देखिये पीछे पा.टि.१६३), उसके झूठ होने का प्रसंग आयेगा।

इसी प्रकार "**तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्**" (त.सू./श्वे./९/३५) तथा "**आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य**" (त.सू./श्वे./९/३७), इन सूत्रों में वर्णित अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत अवस्थाएँ अपने नाम से ही सूचित करती हैं कि ये रत्नत्रय के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ है, इसीलिए प्रथम तीन में उत्तरोत्तर घटते हुए आर्त्तध्यान की योग्यता और चौथी में आर्त्तध्यान की अयोग्यता एवं धर्मध्यान की योग्यता बतलायी गयी है। (दिगम्बरमत के अनुसार अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत एवं प्रमत्तसंयत गुणस्थानों में धर्मध्यान की भी योग्यता होती है)। अतः ये रत्नत्रय के क्रमिक विकास के धर्म (गुण) से अर्थात् गुणस्थानभाव से युक्त होने के कारण गुणस्थान हैं। तथा "**उपशान्तक्षीणकषाययोश्च**" (त.सू./श्वे./९/३८), "**शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः**" (त.सू./श्वे./९/३९/), '**परे केवलिनः**' (त.सू./श्वे./९/४०) एवं "**तत्र्येककाययोगायोगानाम्**" (त.सू./श्वे./९/४), इन सूत्रों में उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय अवस्थाओं में चतुर्विध धर्मध्यानों के साथ आदि के

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

दो शुक्लध्यानों की पात्रता का प्रतिपादन किया गया है और सयोगकेवली और अयोगकेवली अवस्थाओं में उत्तरवर्ती दो शुक्लध्यानों की योग्यता का निर्देश है, जिससे सिद्ध होता है कि ये रत्नत्रय के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ हैं। अत एव रत्नत्रय के क्रमिक विकास के धर्म (गुण) से अर्थात् गुणस्थानभाव से युक्त होने के कारण ये गुणस्थान हैं। अतः गुणस्थान-भाव या गुणस्थानसिद्धान्त को विकसित मानने पर ये अर्हद्वचन भी छद्मस्थ-अनाप्त-प्रणीत सिद्ध होने से मिथ्या सिद्ध होंगे।

इस तरह गुणस्थानसिद्धान्त को विकसित (छद्मस्थ-अनाप्त-प्रणीत) मानने पर श्रुत के अपलाप और उसके द्वारा उसके अवर्णवाद का प्रसंग आता है। अतः यह मान्य नहीं हो सकता कि गुणस्थानसिद्धान्त जिनोपदिष्ट नहीं, अपितु विकसित है। यतः तत्त्वार्थ-सूत्र में उपलब्ध गुणस्थानों के उपर्युक्त उल्लेख, जिनसे गुणस्थानभाव (रत्नत्रय के क्रमिक विकास का धर्म) स्पष्टतः प्रकट होता है एवं गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र आचार्य उमास्वाति के वचनानुसार अर्हद्वचन के अंश हैं, अतः सिद्ध है कि गुणस्थानसिद्धान्त विकसित नहीं, अपितु जिनोपदिष्ट है।

२. श्वेताम्बरग्रन्थ **जीवसमास**, जो किसी अज्ञात पूर्वधर द्वारा रचित माना गया है, उसकी मंगलाचरण-गाथा में ही उल्लेख है कि चौबीसों जिन चौदह गुणस्थानों के ज्ञाता हैं। (देखिये, पीछे पा. टि. १६४)। इससे डॉ० सागरमल जी का यह मत असत्य सिद्ध हो जाता है कि गुणस्थानसिद्धान्त जिनोपदिष्ट नहीं, अपितु छद्मस्थों द्वारा विकसित है। इसलिए यदि श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थानसिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता और दिगम्बर-आगमों में उपलब्ध होता है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसका उपदेश भगवान् महावीर से प्राप्त नहीं हुआ, अपितु वह विकसित हुआ है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि जिनोपदिष्ट गुणस्थानसिद्धान्त को श्वेताम्बरपरम्परा स्मृति में सुरक्षित नहीं रख पायी, फलस्वरूप वह इस परम्परा के आगमसाहित्य में संकलित नहीं हो सका। उसकी स्मृति में केवल गुणस्थानों के नाम ही शेष रहे, उनमें अन्तर्निहित गुणस्थानभाव (उनके मोक्षमार्गभूत रत्नत्रय के क्रमिक विकास की अवस्था होने का तथ्य) विस्मृत हो गया। इसीलिए भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थानवाचक अनेक नाम मिलते हैं। जैसे भगवतीसूत्र में मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरत, विरताविरत, विरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगी और अयोगी (सयोगिकेवली, अयोगिकेवली नहीं) इन १३ नामों का उल्लेख है, केवल सासादनसम्यग्दृष्टि नाम नहीं मिलता। (देखिये, साध्वी दर्शनकलाश्री जी का पूर्वोक्त शोधग्रन्थ / पृ.३४-३५)। ये नाम भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि में गुथस्थानों से भिन्न अर्थ में यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि मिथ्यादृष्टि का अर्थ मिथ्यादृष्टि ही है, सम्यग्दृष्टि का अर्थ सम्यग्दृष्टि ही है, अविरत का अर्थ अविरत

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ही है, विरत का अर्थ विरत ही है, तथापि ये मोक्षमार्गभूत रत्नत्रय के क्रमिक विकास की सूचक अवस्थाओं के रूप में वर्णित नहीं है। ये रत्नत्रय के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ हैं, ऐसी अवधारणा भी वहाँ उपलब्ध नहीं है।

कुछ शब्दों का अर्थ भी परिवर्तित हुआ है। जैसे अनुत्तरविमान के देवों को 'उपशान्तमोह' कहा गया है। यहाँ यह शब्द कषाय के अत्यन्त मन्द होने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार 'सयोगी' और 'अयोगी' शब्द केवली के अर्थ में प्रयुक्त न होकर, मन-वचन-काय की क्रिया करनेवाले और न करनेवाले सामान्य जीवों के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। (वही/पृ.३४)। 'प्रमत्तसंयत' और 'अप्रमत्तसंयत' शब्दों में 'प्रमत्त' और 'अप्रमत्त' शब्दों का प्रयोग अयत्नाचारी और यत्नाचारी, इन सामान्य लोकप्रसिद्ध अर्थों में किया गया है, छठे और सातवें गुणस्थानवालों के अर्थ में नहीं। (वही/पृ.४८)।

इसके अतिरिक्त भगवतीसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त के विरुद्ध प्ररूपण भी हुआ है। उदाहरणार्थ, सम्यग्दृष्टि जीव की उत्पत्ति पृथ्वीकायिक में भी बतलायी गयी है। (साध्वी दर्शनकलाश्री/वही/पृ.३२)। ज्ञानावरणादि घाती कर्मों का क्षय करने के बाद अपूर्वकरण में प्रविष्ट होने का कथन किया गया है तथा सूक्ष्मसम्पराय-चारित्रवाले मुनि को सवेद कहा गया है। (वही/पृ.३३)।

यतः भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि श्वेताम्बर आगमों में उपलब्ध होनेवाली उपर्युक्त तेरह अवस्थाओं के नाम गुणस्थानों के नामों से मिलते-जुलते हैं, इसलिए डॉ० सागरमल जी ने माना है कि वे गुणस्थानसिद्धान्त के बीज हैं। उन्हीं से श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं में गुणस्थानसिद्धान्त विकसित हुआ है, जो क्रमशः श्वेताम्बरग्रन्थ जीवसमास और दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम में दृष्टिगोचर होता है। अर्थात् उन्हीं अवस्थाओं में सासादनसम्यग्दृष्टि नाम की अवस्था जोड़कर और उन्हें रत्नत्रय के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ मानकर गुणस्थानसिद्धान्त प्रस्तुत कर दिया गया।

यहाँ प्रश्न है कि गुणस्थानों के नामों से अक्षरशः साम्य रखनेवाले, भगवतीसूत्र में उपलब्ध उपर्युक्त तेरह नामों का विकास कैसे हुआ? अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय जैसे अत्यन्त असामान्य पारिभाषिक शब्द किस सिद्धान्त को अभिव्यक्त करने के लिए गढ़े गये? जब इस प्रश्न पर विचार करते हैं, तो स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त नाम वस्तुतः गुणस्थानों के ही नाम हैं। वे गुणस्थानसिद्धान्त के बीज नहीं, अपितु चिह्न हैं, भग्नावशेष हैं। जैसे किसी खुदाई में मिले मंदिर के भग्नावशेष वहाँ पर पूर्व में मंदिर होने की सूचना देते हैं, वैसे ही भगवतीसूत्र में उपलब्ध गुणस्थानों के नाम पूर्व में गुणस्थानसिद्धान्त का अस्तित्व होने की सूचना देते हैं। जैसे किसी

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

स्थान में बिखरे हुए कुछ छिद्रयुक्त मोती पूर्व में विद्यमान मोतियों की माला के अस्तित्व का बोध कराते हैं, वैसे ही भगवतीसूत्र आदि श्वेताम्बर आगमों में उपलब्ध गुणस्थानों के नाम पूर्व में गुणस्थानसिद्धान्त के श्रुतिपरम्परा में विद्यमान होने का बोध कराते हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं को अपनी प्राचीन अभिन्न निर्ग्रन्थपरम्परा से गुणस्थानसिद्धान्त का उपदेश प्राप्त हुआ था। उसे श्वेताम्बरपरम्परा स्मृति में सुरक्षित नहीं रख पायी, केवल गुणस्थानों के ही अधिकतर नाम उसकी स्मृति में शेष रहे। उनका अर्थ और स्वरूप भी विस्मृत हो गया। स्मृति में शेष इन्हीं नामों का पाँचवीं शती ई० में वलभी-वाचना के समय नये सन्दर्भों में नये अर्थ के साथ भगवतीसूत्र आदि में उल्लेख कर दिया गया।

किन्तु दिगम्बरपरम्परा में गुणस्थानसिद्धान्त ज्यों का त्यों आचार्यों की स्मृति में बना रहा, इसलिए षट्खण्डागम में वह अपनी समस्त विशेषताओं और विभिन्न पक्षों के साथ विस्तार से निबद्ध हो गया।

इस प्रकार भगवतीसूत्र आदि श्वेताम्बर-आगमों में उपलब्ध गुणस्थानों के नाम सिद्ध करते हैं कि गुणस्थानसिद्धान्त जिनोपदिष्ट ही है, विकसित नहीं।

३. डॉक्टर सा० ने माना है कि 'श्वेताम्बरपरम्परा में सर्वप्रथम **जीवसमास** ग्रन्थ में गुणस्थानसिद्धान्त का सुव्यवस्थित उल्लेख हुआ है।' इस कथन में थोड़ी ही सत्यता है, क्योंकि उसमें केवल चौदह गुणस्थानों के नाम देकर, चौदह मार्गणाओं एवं आठ अनुयोगद्वारों की अपेक्षा गुणस्थानों का वर्णन किया गया है। इसके अलावा उसमें न तो 'गुणस्थान' शब्द की व्याख्या की गयी है, न चौदह गुणस्थानों के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, न ही यह वर्णन है कि विभिन्न गुणस्थानों की उत्पत्ति किन कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपश या क्षय से होती है तथा किस गुणस्थान में किन कर्मों का उदय, उदीरणा, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, उपशम या क्षय होता है, तथा किस गुणस्थान में कौनसा सम्यग्दर्शन, कौनसा संयम, कौनसा चारित्र, कौनसे ध्यान, कौनसे परीषह आदि संभव होते हैं? जिस ग्रन्थ में गुणस्थानसिद्धान्त का प्रथम वार सुव्यवस्थित उल्लेख माना जा रहा हो, अर्थात् छद्मस्थ द्वारा नवीन विकसित किये गये गुणस्थानसिद्धान्त का प्रथम वार प्रस्तुतीकरण माना जा रहा हो, उसमें उपर्युक्त तथ्यों का उल्लेख प्राथमिक रूप से आवश्यक है, क्योंकि उनके बिना गुणस्थान-सिद्धान्त को हृदयंगम करना ही संभव नहीं है। चूँकि उनका उल्लेख नहीं किया गया है, इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरपरम्परा भी गुणस्थानसिद्धान्त से परिचित हो चुकी थी, इसीलिए **जीवसमास** के कर्त्ता ने उपर्युक्त प्राथमिक विषयों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा।

श्वेताम्बरपरम्परा गुणस्थानसिद्धान्त से कैसे परिचित हुई, जब कि उस परम्परा में गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा ही नहीं थी? इसका सयुक्तिक उत्तर यह है कि दिगम्बरपरम्परा में गुणस्थानसिद्धान्त का प्रतिपादक **षट्खण्डागम** जैसा महान् ग्रन्थ ईसा-पूर्व प्रथम शती के पूर्वार्ध में रचा जा चुका था। जीवसमास (छठी शती ई०—उत्तरार्ध) की रचना के कतिपय वर्ष पूर्व श्वेताम्बरपरम्परा **षट्खण्डागम** एवं पूज्यपाद-स्वामीकृत **सर्वार्थसिद्धि** (५वीं शती ई०) के सम्पर्क में आयी और वह गुणस्थानसिद्धान्त से परिचित हुई। श्वेताम्बराचार्यों में उस पर गहन चिन्तन-मनन हुआ और भगवतीसूत्र आदि श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थानों के नाम-जैसे अनेक नाम उपलब्ध होने से उन्हें विश्वास हो गया कि ये गुणस्थानों के ही नाम हैं और गुणस्थान-सिद्धान्त जिनोपदिष्ट है। फलस्वरूप श्वेताम्बरसंघ में षट्खण्डागम और सर्वार्थसिद्धि का गहन अध्ययन चलता रहा और वे गुणस्थानसिद्धान्त से सुपरिचित हो गये। अब उन्हें लगा कि गुणस्थान-विषयक कोई ग्रन्थ श्वेताम्बर-परम्परा में भी लिखा जाना चाहिए। इस विचार से प्रेरित होकर किन्हीं आचार्य ने, जिनका नाम विस्मृति के गर्त में चला गया, **षट्खण्डागम** का अनुसरण कर **जीवसमास** नामक संक्षिप्त ग्रन्थ की रचना की। और ग्रन्थ को लघुकाय रखने के लिए ऊपर निर्दिष्ट उन समस्त विषयों का उल्लेख छोड़ दिया, जो गुणस्थानसिद्धान्त को हृदयंगम करने के लिए प्राथमिकरूप से आवश्यक होते हैं, क्योंकि षट्खण्डागम एवं सर्वार्थसिद्धि के अध्ययन से श्वेताम्बरसंघ उनसे सुपरिचित हो चुका था। इस प्रकार चूँकि **जीवसमास** में उन विषयों का निर्देश नहीं है, जो गुणस्थानसिद्धान्त को समझने के लिए प्राथमिक रूप से आवश्यक होते हैं, इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरपरम्परा दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम और सर्वार्थसिद्धि के माध्यम से गुणस्थानसिद्धान्त से पहले ही परिचित हो चुकी थी। यह इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बरजैनसंघ में गुणस्थानसिद्धान्त का ज्ञान आचार्यपरम्परा से चला आ रहा था, अतः वह विकसित नहीं हुआ है, अपितु जिनोपदिष्ट है।

४. गुणस्थानसिद्धान्त का छद्मस्थों द्वारा विकास किये जाने का कोई प्रयोजन भी दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि तीर्थंकरों ने गुणस्थान-आरोहण के बिना ही मोक्ष होने का उपदेश दिया था, तो उसमें अविश्वास करने की क्या आवश्यकता थी, जिससे गुणस्थानसिद्धान्त विकसित किया गया? कोई भी सम्यग्दृष्टि आचार्य जिनवचन में अश्रद्धा नहीं कर सकता। अतः गुणस्थानसिद्धान्त को विकसित करनेवाला एवं उसमें श्रद्धा करने-वाला मिथ्यादृष्टि ही कहा जा सकता है। किन्तु 'जीवसमास' के कर्त्ता **अज्ञात पूर्वधर आचार्य**, तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिकार श्री **सिद्धसेनगणी** एवं श्री **हरिभद्रसूरि** ने गुणस्थानसिद्धान्त में श्रद्धा व्यक्त की है, उसे मान्यता प्रदान की है। इन आचार्यों को कोई भी श्वेताम्बर मुनि एवं श्रावक मिथ्यादृष्टि नहीं कह सकता। इससे सिद्ध है

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कि गुणस्थानसिद्धान्त छद्मस्थ या अनाप्त द्वारा विकसित नहीं किया गया, अपितु जिनोपदिष्ट है।

५. डॉ० सागरमल जी ने श्वेताम्बरीय **जीवसमास** ग्रन्थ को ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में रचित सिद्ध किया है। इसके समर्थन में उन्होंने दो प्रमुख हेतु प्रस्तुत किये हैं। यथा—

१. "**नन्दीसूत्र** एवं **पाक्षिकसूत्र** में उस काल तक रचित आगमग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु उनमें कहीं भी **जीवसमास** का उल्लेख नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि जीवसमास की रचना नन्दीसूत्र के पश्चात् ही हुई होगी। नन्दीसूत्र की रचना लगभग विक्रम की पाँचवीं शती में हुई, अतः जीवसमास पाँचवीं शती के पश्चात् निर्मित हुआ। सातवीं शताब्दी में या उसके पश्चात् रचित ग्रन्थों में जीवसमास का उल्लेख पाया जाता है, अतः जीवसमास की रचना विक्रम संवत् की पाँचवीं शती के पश्चात् और सातवीं शती के पूर्व अर्थात् लगभग छठी शताब्दी में हुई होगी।" (जीवसमास / भूमिका / पृ.I)।

२. "--- मतिज्ञान के अन्तर्गत इन्द्रियप्रत्यक्ष (जीवसमास/गा.१४२) को स्वीकार कर लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानचर्चा के प्रसंग में जीवसमास की स्थिति तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती है और नन्दीसूत्र के समान ही है। नन्दीसूत्र का काल पाँचवीं शती है। नन्दीसूत्र में ही सर्वप्रथम मतिज्ञान के एक भेद के रूप में इन्द्रियप्रत्यक्ष को व्यावहारिक प्रत्यक्ष के रूप में मान्य किया गया है।" (वही / पृ.II)।

तात्पर्य यह कि नन्दीसूत्र से ही जीवसमास में मतिज्ञान का इन्द्रियप्रत्यक्ष नामक भेद ग्रहण किया गया है, अतः जीवसमास की रचना नन्दीसूत्र की रचना के बाद छठी शती ई० में हुई है।

किन्तु साध्वी डॉ० **दर्शनकलाश्री** जी के **प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा** नामक शोधग्रन्थ के **प्राक्कथन** में डॉक्टर सा० ने जीवसमास को लगभग पाँचवीं शती का बतलाया है और इसके समर्थन में कोई हेतु प्रस्तुत नहीं किया। (पृष्ठ २)। इससे उनका यह मत मान्य नहीं हो सकता, पूर्वमत ही मानने योग्य है। इसके साथ ही उन्होंने उपर्युक्त प्राक्कथन में लिखा है—

"श्वेताम्बरपरम्परा में गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा को स्पष्टतः प्रस्तुत करनेवाला प्रथम ग्रन्थ **जीवसमास** है। तुलनात्मक आधार पर मैंने और कुछ दिगम्बर विद्वानों ने भी यह माना है कि 'जीवसमास' ही षट्खण्डागम का आधारभूत ग्रन्थ रहा है।" (पृ.३)।

इस प्रकार डॉक्टर सा० ने षट्खण्डागम को जीवसमास के बाद का और छठी शती ई० के उत्तरार्ध के पश्चात् रचित माना है। इसके समर्थन में उन्होंने दिगम्बर विद्वान् **पं० हीरालाल जी शास्त्री** (साढूमल-निवासी) के उन वचनों की ओर संकेत किया है, जो उन्होंने ब्र० पं० सुमतिबाई शहा द्वारा सम्पादित एवं १९६५ ई० में श्री श्रुतभाण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति फलटण द्वारा प्रकाशित 'षट्खण्डागम' की प्रस्तावना में निबद्ध किये हैं। प्रस्तावना में उन्होंने 'जीवस्थान का आधार' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है कि षट्खण्डागम के जीवस्थान की रचना 'जीवसमास' नामक ग्रन्थ के आधार पर हुई है। प्रस्तावना का यह अंश डॉ० सागरमल जी ने 'जीवसमास' की भूमिका (पृष्ठ xxxi–x / i) में उद्धृत किया है।

पण्डित जी की भ्रान्ति—पं० हीरालाल जी शास्त्री ने जिस **जीवसमास** ग्रन्थ को षट्खण्डागम के जीवस्थान का आधार बतलाया है, वह श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, यह डॉ० सागरमल जी के उपर्युक्त वचनों से ज्ञात होता है। ग्रन्थ के अन्तरंग प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है। यथा—

१. जीवसमास की भाषा शौरसेनी न होकर **अर्धमागधी** है, क्योंकि उसमें **नेरइया** (गा. ११) **तिरिया** (गा. २७२), **अन्नाण** (गा. २६९), **केवलनाणी** (गा. ८१) **निग्गंथ** (गा. ६८) इत्यादि अर्धमागधी के प्रयोग मिलते हैं। **शौरसेनी** में क्रमशः **णेरइया, तिरिक्खा, अण्णाण, केवलणाणी, णिग्गंथ,** ये रूप बनते हैं। दिगम्बरग्रन्थों की भाषा शौरसेनी और क्वचित् **महाराष्ट्री** है।

२. जीवसमास में छह भाव माने गये हैं—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक, पारिणामिक और **सान्निपातिक** (गा. २६५)। दिगम्बरपरम्परा में पृथक् सान्निपातिक भाव मान्य नहीं है। दो भावों के संयोग को सान्निातिकभाव कहते हैं, वह मिश्रभाव में ही गर्भित हो जाता है। (तत्त्वार्थराजवार्तिक २ / ७ / २१-२२ / पृ.११४)।

३. जीवसमास में अनुदिश नाम के नौ कल्पातीत स्वर्ग नहीं माने गये हैं, जब कि दिगम्बरपरम्परा मानती है। षट्खण्डागम में भी मान्य हैं।

पं० हीरालाल जी शास्त्री ने जीवसमास को भ्रान्तिवश दिगम्बरग्रन्थ मान लिया है। इसीलिए दिगम्बरमत के विरुद्ध जो मान्यताएँ उसमें उपलब्ध होती हैं, उनका उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की पद्धति से समाधान करके उसे दिगम्बरग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। वे लिखते हैं—

"यद्यपि जीवसमास की एक बात अवश्य खटकने जैसी है कि उसमें १६ स्वर्गों के स्थान पर १२ स्वर्गों के ही नाम हैं और नव अनुदिशों का भी नाम-निर्देश

नहीं है, तथापि जैसे तत्त्वार्थसूत्र के "**दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः**" इत्यादि सूत्र में १६ के स्थान पर १२ कल्पों का निर्देश होने पर भी इन्द्रों की विवक्षा करके और "**नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु**" इत्यादि सूत्र में अनुदिशों के नाम का निर्देश नहीं होने पर भी उनकी **नवसु** पद से सूचना मान करके समाधान कर लिया गया है, उसी प्रकार से यहाँ भी समाधान किया जा सकता है।" (षट्खण्डागम / प्रस्तावना / पृ.९९ / सम्पा.-ब्र. पं० सुमतिबाई शहा / द्वि.सं. / प्रकाशक—आ० शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थमाला/ बुढ़ाना, मुजफ्फरनगर उ.प्र. / २००५ ई०)।

इसके अतिरिक्त पं० हीरालाल जी शास्त्री ने षट्खण्डागम के उपदेष्टा आचार्य धरसेन का समय वीरनिर्वाण से ६०० वर्ष बाद अर्थात् ई० सन् ७३ के पश्चात् माना है (वही / द्वि.सं. / प्रस्ता. / पृ.१) और लिखा है कि किसी अज्ञात पूर्वभृत (पूर्वधर) सूरि द्वारा सूत्रित (रचित) **जीवसमास** ग्रन्थ "आचार्यपरम्परा से प्रवहमान होता हुआ **धरसेनचार्य** को प्राप्त हुआ। उसमें जो कथन स्पष्ट था, उसकी व्याख्या में अधिक बल न देकर जो अप्ररूपित मार्गणाओं का गूढ़ अर्थ था, उसका उन्होंने भूतबलि और पुष्पदन्त को विस्तार से विवेचन किया और उन्होंने भी उसी गूढ़ रहस्य को अपनी रचना में स्पष्ट करके कहना या लिखना उचित समझा।" (वही / द्वि.सं. / प्रस्ता. / पृ.९२)।

पण्डित जी आगे लिखते हैं—"--- **जीवसमास** के प्रणेता वस्तुतः श्रुतज्ञान के अंगभूत ११ अंगों और १४ पूर्वों के वेत्ता थे। भले ही वे श्रुतकेवली न हों, पर उन्हें अंग और पूर्वों के बहुभाग का विशिष्ट ज्ञान था, और यही कारण है कि वे अपनी कृति को इतना स्पष्ट और विशद बना सके। यह कृति आचार्यपरम्परा से आती हुई **धरसेनाचार्य** को प्राप्त हुई, ऐसा मानने मे हमें कोई बाधक कारण दिखाई नहीं देता।" (वही / द्वि. स. / प्रस्ता. / पृ.९२)।

११ अंगों और १४ पूर्वों के अन्तिम वेत्ता **श्रुतकेवली भद्रबाहु** थे। पण्डित जी के अनुसार जीवसमास के कर्त्ता का समय इनके ठीक बाद ही माना जा सकता है। श्रुतकेवली भद्रबाहु ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में हुए थे। अतः जीवसमास के कर्त्ता को भी ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में ही विद्यमान मानना होगा। इस तरह उनका स्थितिकाल, धरसेनाचार्य से लगभग ४०० वर्ष पूर्व घटित होता है। और पण्डित जी का मत है कि उनके द्वारा रचित **जीवसमास** धरसेनाचार्य को आचार्यपरम्परा से प्राप्त हुआ था। इससे स्पष्ट होता है कि पण्डित जी जीवसमास के कर्त्ता को दिगम्बरपरम्परा का मानकर चले हैं। इसीलिए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि षट्खण्डागम के 'जीवस्थान' नामक खण्ड की रचना 'जीवसमास' के आधार पर हुई है। यदि उनकी दृष्टि इस तथ्य पर गयी होती कि वह श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है और उसका रचनाकाल ईसा की छठी शताब्दी का उत्तरार्ध है, तो वे ठीक उसी निर्णय पर पहुँचते, जिसे उन्होंने

निरस्त किया है। उन्होंने जीवसमास को ईसापूर्व चौथी सदी की कृति मानकर इस सम्भावना को निरस्त किया है कि जीवसमास की रचना षट्खण्डागम के आधार पर हुई है। वे लिखते हैं—

"यहाँ यह शंका की जा सकती है कि संभव है षट्खण्डागम के उक्त जीवस्थान के विशद एवं विस्तृत वर्णन का जीवसमासकार ने संक्षेपीकरण किया हो, जैसा कि धवला-जयधवला टीकाओं का संक्षेपीकरण गोम्मटसार के रचयिता नेमिचन्द्राचार्य ने किया है। पर, इस शंका का समाधान यह है कि पहले तो गोम्मटसार के रचयिता ने उसमें अपना नाम स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है, जिससे वह परवर्ती रचना सिद्ध हो जाती है। पर यहाँ तो जीवसमासकार ने न तो अपना नाम कहीं दिया है और न परवर्ती आचार्यों ने ही उसे किसी आचार्य-विशेष की कृति बताकर नामोल्लेख किया है। प्रत्युत उसे 'पूर्वभृत्सूरि-सूत्रित' ही कहा है, जिसका अर्थ यह होता है कि जब यहाँ पर पूर्वों का ज्ञान प्रवहमान था, तब किसी पूर्ववेत्ता आचार्य ने दिन पर दिन क्षीण होती हुई लोगों की बुद्धि और धारणाशक्ति को देखकर ही प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित होकर इसे गाथारूप में निबद्ध कर दिया है। और वह आचार्यपरम्परा से प्रवहमान होता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ है।" (वही / द्वि.सं. / प्रस्ता. / पृ.९१-९२)।

इस कथन से स्पष्ट है कि पण्डित जी ने जीवसमास को दिगम्बरग्रन्थ एवं ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी की रचना मानकर ही उसे षट्खण्डागम के 'जीवस्थान' का आधार माना है। यदि वे इस तथ्य से अभिज्ञ होते कि वह श्वेताम्बरग्रन्थ है और ईसा की छठी शती के उत्तरार्ध में रचा गया है, तो वे भी यह निर्णय देते कि वह षट्खण्डागम के आधार पर निर्मित हुआ है, उसमें षट्खण्डागम का संक्षेपीकरण किया गया है।

इसलिए डॉ० सागरमल जी ने जीवसमास को षट्खण्डागम का आधारभूत ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो यह प्रमाण प्रस्तुत किया है कि दिगम्बर विद्वान् पं० हीरालाल जी शास्त्री ने भी जीवसमास को षट्खण्डागम के जीवस्थान का आधार माना है, वह भ्रान्तिजन्य होने से भ्रान्तिपूर्ण है। अतः उससे इस बात की पुष्टि नहीं होती कि षट्खण्डागम के जीवस्थान की रचना जीवसमास के आधार पर हुई है।

६. यदि जीवसमास को षट्खण्डागम के जीवस्थान-खण्ड की रचना का आधार माना जाय तो, प्रश्न उठता है कि उसके २. खुद्दाबन्ध (क्षुद्रबन्ध), ३. बन्धस्वामित्वविचय, ४. वेदना, ५. वर्गणा एवं ६. महाबन्ध, इन शेष पाँच खण्डों की रचना किन ग्रन्थों के आधार पर हुई ? क्योंकि इन पाँच खण्डों की सामग्री तो जीवसमास ग्रन्थ में

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

उपलब्ध ही नहीं है। इसके उत्तर में यदि कहा जाय कि उनकी रचना आचार्यपरम्परा से प्राप्त उपदेश के आधार पर हुई है, तो जीवस्थान-खण्ड की रचना भी आचार्यपरम्परा से प्राप्त उपदेश के आधार पर क्यों नहीं हो सकती ? इस तर्क का निरसन किसी भी तर्क से संभव नहीं हैं, अतः सिद्ध होता है कि जीवसमास को जो षट्खण्डागम के जीवस्थान खण्ड का आधारभूत ग्रन्थ माना गया है, वह अप्रामाणिक है।

७. आगे **षट्खण्डागम** नामक एकादश अध्याय में वे प्रमाण प्रस्तुत किये जायेंगे, जिनसे सिद्ध होता है कि षट्खण्डागम की रचना ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई थी। और जीवसमास का रचनाकाल ईसा की छठी शताब्दी का उत्तरार्ध है, यह डॉ० सागरमल जी द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों से सिद्ध ही है। अतः रचनाकाल की यह पूर्वापरता इस निर्णय में सन्देह के लिए अवकाश नहीं छोड़ती कि जीवसमास ही षट्खण्डागम के आधार पर रचा गया है, षट्खण्डागम जीवसमास के आधार पर नहीं।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन का सार इस प्रकार है—

१. कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय से प्रकट जीव की मिथ्या एवं सम्यक् दर्शनज्ञानचारित्रात्मक अवस्थाएँ गुणस्थान कहलाती हैं। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की ऊपर-ऊपर उठती अवस्थाएँ अर्थात् गुणस्थान मोक्ष की सीढ़ियाँ हैं।

२. 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उल्लिखित 'सम्यग्दृष्टि', 'श्रावक', 'विरत' आदि अवस्थाएँ लक्षण की दृष्टि से गुणस्थान ही हैं और सम्पूर्ण दिगम्बर एवं श्वेताम्बर-साहित्य में उन्हें गुणस्थान ही कहा गया है। उनका 'आध्यात्मिक विकास की अवस्था' यह नामकरण तो स्वयं तत्त्वार्थसूत्रकार ने नहीं किया। यह पारिभाषिक (अर्थविशेष-सूचक) शब्द भी नहीं है, अपितु परिभाषा (अर्थविशेष) ही है, अतः अप्रामाणिक है।

३. तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानों का उल्लेख न केवल गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में है, अपितु परीषहों, ध्यानभेदों, आहारकशरीर और पञ्च चारित्रभेदों के वर्णन-प्रसंग में भी है।

४. तत्त्वार्थसूत्र में नौ गुणस्थानों का कथन शब्दतः है और पाँच का अर्थतः। इस प्रकार उसमें चौदहों गुणस्थानों का वर्णन है।

५. तत्त्वार्थसूत्र के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उपशमक और क्षपक श्रेणियों का उल्लेख 'अनन्तवियोजक' एवं 'दर्शनमोहक्षपक' संज्ञाओं का प्रयोग तत्त्वार्थसूत्रकार के गुणस्थान-सिद्धान्त-विषयक गहन और सूक्ष्म ज्ञान का परिचायक है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

६. तत्त्वार्थसूत्र का सम्पूर्ण विषय-प्रतिपादन गुणस्थान-केन्द्रित है और उसकी गुणस्थानकेन्द्रितता सर्वमान्य है।

७. श्वेताम्बर-आगमों में न तो गुणस्थानों की मान्यता है, न गुणश्रेणिनिर्जरा के स्थानों की। 'समवायांग' और 'आचारांगनिर्युक्ति' में इनका प्रवेश षट्खण्डागम से हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र में भी वहीं से आये हैं। अतः षट्खण्डागम तत्त्वार्थसूत्र से प्राचीन है।

८. तत्त्वार्थसूत्र में जिस कर्मव्यवस्था का प्ररूपण है, उससे चतुर्दश गुणस्थान-व्यवस्था स्वतः सिद्ध होती है। अतः वह उतनी ही प्राचीन है, जितनी तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित कर्मव्यवस्था।

९. दिगम्बराचार्य वीरसेन स्वामी ने गुणस्थानों को मोक्ष का सोपान कहा है और श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरि ने 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षपरम्परा' (मोक्ष का क्रमिक मार्ग) शब्द से अभिहित किया है। अतः गुणस्थानसिद्धान्त उतना ही पुराना है, जितना तीर्थंकरप्रणीत मोक्षमार्ग।

१०. यदि गुणस्थानसिद्धान्त को ईसा की चौथी शती के बाद विकसित माना जाय, तो इसका यह तात्पर्य होगा कि उसके पहले जीव सम्यग्दृष्टि, श्रावक (देशविरत), विरत आदि अवस्थाओं को प्राप्त नहीं होते थे और ऋषभादि तीर्थंकर मिथ्यादृष्टि एवं व्रतहीन अवस्था में ही मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार यह गुणस्थानविकासवादी मान्यता जैनशासन के 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस प्राणभूत सिद्धान्त पर ही कुठाराघात करती है, अतः यह जैनशासनविरोधी होने से युक्तियुक्त नहीं है।

११. गुणस्थानसिद्धान्त के उद्भव और विकास अथवा ऐतिहासिक विकासक्रम को निर्धारित करनेवाले हेतु अप्रामाणिक हैं, अतः वह ऐतिहासिक विकासक्रम नहीं, अपितु कपोलकल्पित विकासक्रम है।

१२. गुणस्थानसिद्धान्त को छद्मस्थ-अनाप्त-प्रणीत मानने पर तत्त्वार्थसूत्र छद्मस्थ-अनाप्त के उपदेश पर आधारित सिद्ध होगा, क्योंकि उसमें गुणस्थानसिद्धान्त के आधार पर तत्त्वप्ररूपण किया गया है। इस स्थिति में श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र की २२वीं सम्बन्धकारिका में उमास्वाति ने जो तत्त्वार्थसूत्र को **अर्हद्वचनैकदेश** कहा है, उसके असत्य होने का प्रसंग आयेगा और उमास्वाति अन्यथावादी सिद्ध होंगे।

१३. गुणस्थानसिद्धान्त के प्ररूपक श्वेताम्बरीय **जीवसमास** की मंगलाचरण-गाथा में कहा गया है कि चौबीसों जिन चौदह गुणस्थानों के ज्ञाता हैं।

१४. श्वेताम्बर-आगम भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि में जो गुणस्थाननाम-सदृश शब्द मिलते हैं, वे गुणस्थानों के ही नाम हैं। जिनोपदिष्ट गुणस्थानसिद्धान्त को

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

श्वेताम्बर-परम्परा स्मृति में सुरक्षित नहीं रख पायी, केवल गुणस्थानों के नाम ही स्मृति में शेष रहे, इसलिए उनका ही उल्लेख उपर्युक्त ग्रन्थों में हो पाया। और उनका वास्तविक अर्थ विस्मृत हो जाने से उनके साथ नया अर्थ और नये सन्दर्भ जोड़ दिये गये। किन्तु दिगम्बरपरम्परा में जिनोपदिष्ट गुणस्थानसिद्धान्त ज्यों का त्यों आचार्यों की स्मृति में बना रहा, इसलिए षट्खण्डागम में वह अपनी समस्त विशेषताओं और विविध पक्षों के साथ विस्तार से निबद्ध हो गया।

१५. गुणस्थानसिद्धान्त को समझने के लिए 'गुणस्थान' शब्द की व्युत्पत्ति, गुणस्थानों के लक्षण आदि तथ्यों की जानकारी सर्वप्रथम आवश्यक होती है। किन्तु छठी शती ई० के गुणस्थानसिद्धान्त-प्रतिपादक श्वेताम्बरग्रन्थ **जीवसमास** में इन तथ्यों की जानकारी नहीं दी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरपरम्परा षट्खण्डागम एवं पूज्यपादस्वामी की सर्वार्थसिद्धि-टीका के माध्यम से गुणस्थानसिद्धान्त से सुपरिचित हो गयी थी। इसीलिए जीवसमास के कर्त्ता ने ग्रन्थ में उपर्युक्त जानकारी देना आवश्यक नहीं समझा।

१६. दिगम्बर विद्वान् पं० हीरालाल जी शास्त्री ने भ्रान्तिवश ईसा की छठी शताब्दी में रचित श्वेताम्बरग्रन्थ जीवसमास को ईसापूर्व चौथी शताब्दी में रचित दिगम्बरग्रन्थ मान लिया और यह घोषित कर दिया कि उसके आधार पर षट्खण्डागम के 'जीवस्थान' खण्ड की रचना हुई है। वस्तुतः षट्खण्डागम का रचनाकाल ईसापूर्व प्रथम शताब्दी का पूर्वार्ध है, जब कि श्वेताम्बरीय जीवसमास ईसा की छठी शती के उत्तरार्ध में रचा गया है। अतः जीवसमास षट्खण्डागम का आधार नहीं हो सकता, अपितु षट्-खण्डागम ही जीवसमास का आधार हो सकता है।

१७. इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि गुणस्थानसिद्धान्त जिनोपदिष्ट ही है। उसे तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल (श्वेताम्बरमान्यतानुसार ईसा की तीसरी-चौथी शती) के बाद विकसित मानना और इस आधार पर गुणस्थानों की चर्चा करनेवाले कसायपाहुड, षट्खण्डागम, कुन्दकुन्दसाहित्य, मूलाचार आदि दिगम्बरग्रन्थों को तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती मानना और इस कारण आचार्य कुन्दकुन्द को पाँचवीं शती ई० (विक्रम की छठी शती) का बतलाना महामिथ्या मान्यताएँ हैं।

१८. पूर्ववर्णित प्रमाणों से सिद्ध है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे।

६

सप्तभंगीविकासवाद

गुणस्थानविकासवादी विद्वान् का दूसरा तर्क यह है कि तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके उमास्वातिकृत भाष्य में नयप्रमाण-सप्तभंगी का भी उल्लेख नहीं है, जब कि कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय में उसका स्पष्ट शब्दों में वर्णन है।[१७१] इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक सप्तभंगी का भी विकास नहीं हुआ था, अतः तत्त्वार्थसूत्र कुन्दकुन्द से पूर्व की रचना है। इसलिए कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार के बाद विक्रम की छठी शती में हुए थे। (जै.ध.या.स./ पृ.२४८-२४९)

निरसन

६.१. भगवतीसूत्र में सातों भंगों की चर्चा

यह तर्क भी एकदम कपोलकल्पित है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र की रचना से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व सुधर्मा स्वामी द्वारा प्रणीत (श्वेताम्बरमतानुसार) पाँचवें आगमग्रन्थ व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) में न केवल सात भंगों की चर्चा है, अपितु तेईस भंग प्रतिपादित किये गये हैं। सप्तभंगीविकासवादी विद्वान् स्वयं लिखते हैं—"श्वेताम्बर आगम भगवतीसूत्र में षट्प्रदेशी स्कन्ध के सम्बन्ध में जो २३ भंगों की योजना है, वह वचनभेदकृत संख्याओं के कारण है। उसमें भी मूलभंग सात ही हैं।" (डॉ.सा.म.जै.अभि.ग्र. / पृ.१५८)। उन सात मूलभंगों का निरूपण चतुःप्रदेशी स्कन्ध के प्रसंग में इस प्रकार किया गया है—

"गोयमा, चउप्पएसिए खंधे १. सिय आया, २. सिय नो आया, ३. सिय अवत्तव्वं-आया ति य नो आया तिय, ४. सिय आया य नो आया य, ५. सिय आया य अवत्तव्वं, ६. सिय नो आया य अवत्तव्वं, ७. सिय आया य नो आया य अवत्तव्वं।" (व्याख्याप्रज्ञप्ति/१२/१०/३०(१)/पृ. २३५)।

अनुवाद—"गौतम! चतुःप्रदेशी स्कन्ध १. स्याद् आत्मा है, २. स्याद् नो-आत्मा है, ३. स्याद् अवक्तव्य है—आत्मा और नो-आत्मा उभयरूप होने से, ४. स्याद् आत्मा भी है और नो-आत्मा भी, ५. स्याद् आत्मा है और अवक्तव्य भी है, ६. स्याद् नो-आत्मा है और अवक्तव्य भी है, ७. स्याद् आत्मा है, नो-आत्मा है और अवक्तव्य भी है।"

---

१७१. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥ १४॥ पञ्चास्तिकाय।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इससे सिद्ध है कि 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने जो सप्तभंगी को तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित माना है, वह सर्वथा मिथ्या है। अतः सप्तभंगी-विकासवाद के मिथ्या हेतु द्वारा कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार से उत्तर-कालीन सिद्ध नहीं होते।

६.२. सप्तभंगी के विकास की परिस्थितियाँ महावीर के ही युग में

वैसे तो अनेकान्त, स्याद्वाद और नय-प्रमाण-सप्तभंगी के सिद्धान्त उतने ही प्राचीन हैं, जितना जैनशासन, तथापि यदि सप्तभंगी के विकास की कल्पना ही की जाय, तो उसके विकास की परिस्थितियाँ भगवान् महावीर के ही युग में थीं, उत्तरकाल में नहीं। क्योंकि उनके ही युग में सप्तभंगी के अंगभूत विभिन्न ऐकान्तिक भंग प्रचलित थे। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में कहा गया है—

'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' (१०/१२९/१) अर्थात् उस समय (सृष्टि के आरंभ में) न सत् था, न असत् था। इस कथन में सद्-असद्-निषेध रूप अनुभय-भंग का वर्णन है।

छान्दोग्योपनिषद् के ऋषि कहते हैं—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'---असदेवेदमग्र आसीत्'** (६/२/१) अर्थात् 'हे सोम्य! सृष्टि के पूर्व यह दृश्यमान जगत् सत् ही था ---। हे सोम्य! सृष्टि के पूर्व यह असत् ही था।' इन वाक्यों में सद्-विधान और असद्-विधान ये दो भंग वर्णित हैं।

तैत्तिरीय-उपनिषत्कार का कथन है—**'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** (२/४/१) अर्थात् 'उस ब्रह्म की थाह न पाकर मन और वाणी दोनों निवृत्त हो जाते हैं।' यह उक्ति अवक्तव्य (अनिर्वचनीय) भंग का निर्देश करती है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में चार भंग उपलब्ध होते हैं।

महावीर के समकालीन छह इतर दार्शनिकों में संजय बेलट्ठपुत्त अनिश्चयवादी था। उसके अनिश्चयवाद में भी चार भंग थे—

१. मैं नहीं कह सकता कि परलोक है।

२. मैं नहीं कह सकता कि परलोक नहीं है।

३. मैं नहीं कह सकता कि परलोक है भी और नहीं भी।

४. मैं नहीं कह सकता कि परलोक न है और न नहीं है।[१७२]

---

१७२. ''एवं वुत्ते, भन्ते! सञ्जयो वेलट्ठपुत्तो मं एतदोवाच—'अत्थि परो लोको ति इति चे मे पुच्छसि, अत्थि परो लोको ति इति चे मे अस्स, अत्थि परो लोको ति इति ते नं ब्याकरेय्यं। एवं

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

गौतमबुद्ध अव्याकृतवादी थे। उन्होंने चार आर्यसत्यों के अलावा और किसी भी दार्शनिक तत्त्व की मीमांसा नहीं की, क्योंकि वे मानते थे कि अन्य किसी भी दार्शनिक तत्त्व के विषय में जानना निर्वाण-प्राप्ति के लिए उपयोगी नहीं है।[१७३] उनके अव्याकृतवाद में भी चार भंग थे—

१. क्या मरण के बाद तथागत होते हैं?

२. क्या मरण के बाद तथागत नहीं होते?

३. क्या मरण के बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते?

४. क्या मरण के बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते।[१७४]

इस प्रकार भगवान् महावीर का युग सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता आदि के विषय में विभिन्न प्रकार के विधि-निषेधरूप ऊहापोह करने का युग था। उस समय जिज्ञासुओं के मन में प्रायः ऐसे ही प्रश्न उठा करते थे और वे तत्कालीन प्रसिद्ध दार्शनिकों से इनका समाधान पाने की चेष्टा करते थे, जिनमें से कोई उन्हें अनिश्चयवाद या अज्ञानवाद की गोद में ढकेल देता था और कोई अव्याकृतवाद के द्वारा उनकी जिज्ञासाओं को निरर्थक ठहरा देता था। किन्तु भगवान् महावीर स्याद्वादी थे। वे हर प्रश्न का उत्तर 'स्याद्'(कथंचित्) निपात का प्रयोग करते हुए 'हाँ' या 'न' में देते थे, जिससे जिज्ञासु का यथोचित रीति से समाधान हो जाता था।

प्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि भी लिखते हैं—"जब हम महावीरयुग का अध्ययन करते हैं, तो ज्ञात होता है कि उस युग में इस प्रकार के प्रश्न दर्शनिकों के मस्तिष्क को झकझोर रहे थे और वे यथार्थ समाधान पाने के लिए मूर्धन्य मनीषियों के पास पहुँचते थे।" (भगवतीसूत्र : एक परिशीलन/पृ.६९)।

इससे इस सत्य का समर्थन होता है कि सप्तभंगी के विकास की परिस्थितियाँ भगवान् महावीर के ही काल में विद्यमान थीं। इस बात से तो गौतमबुद्ध भी अभिज्ञ

ति पि मे नो, तथा ति पि मे नो, अञ्ञथा ति पि मे नो, नो ति पि मे नो, नो नो ति पि मे नो। नत्थि परो लोको---। अत्थि च नत्थि च परो लोको---। नेवत्थि न नत्थि परो लोको---।" संजयवेलट्ठपुत्तवादो/ सामञ्ञफलसुत्त / दीघनिकायपालि/भाग १/ पृ.६४।

१७३. चूळमाळुक्यसुत्त/ मज्झिमनिकायपालि/ भा.२/ पृ.५४९।

१७४. " 'होति तथागतो परं मरणा' ति मया अब्याकतं, 'न होति तथागतो परं मरणा' ति मया अब्याकतं, 'होति च न च होति तथागतो परं मरणा' ति मया अब्याकतं, 'नेव होति न न होति तथागतो परं मरणा' ति मया अब्याकतं।" चूळमाळुक्यसुत्त / मज्झिमनिकायपालि / २. मज्झिम पण्णासक / पृ.५९४।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

थे कि भगवान् महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी माने जाते थे। वे स्वयं अपने भिक्षुओं से कहते हैं—

''एवं वुत्ते भिक्खवे! ते निगण्ठा मं एतदवोचुं—'**निगण्ठो, आवुसो, नाटपुत्तो सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी, अपरिसेसं ञाणदस्सनं पटिजानाति—चरतो च मे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितं ति।** सो एवमाह—अत्थि खो वो, आवुसो निगण्ठा, पुब्बे व पापकम्मं कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करकारिकाय निज्जीरेथ, यं पनेत्थ एतरहि कायेन संवुता वाचाय संवुता मनसा संवुता तं आयतिं पापकम्मस्स अकरणं। इति पुराणानं कम्मानं तपसा व्यन्तीभावा, नवानं कम्मानं अकरणा, आयतिं अनवस्सवो आयतिं अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया दुक्खक्खओ, दुक्खक्खया वेदनाक्खयो, वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निजिण्णं भविस्सती ति। तं च पनम्हाकं रुच्चति चेव खमति च, तेन चम्हा अत्तमना' ति।'' (निगण्ठानं दुक्खनिज्जरावादो / देवदहसुत्त/ मज्झिमनिकायपालि / ३. उपरिपण्णासक / पृ.१०२६-२७)।

अनुवाद—''भिक्षुओ! मेरे द्वारा ऐसा कहे जाने पर उन निर्ग्रन्थों ने मुझ से कहा—आयुष्मन्! निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अपने सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन की प्रतिज्ञा करते हैं कि चलते, खड़े रहते, सोते-जागते सदा मुझे ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। वे (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र) ऐसा कहते हैं—'आयुष्मन् निर्ग्रन्थो! जो तुम्हारा पूर्वकृत कर्म है, उसे इस क्लेशसाध्य दुष्कर कारिका (तपश्चर्या) से नष्ट कर दो। और जो इस समय तुम काय, वाक्, मन से संवृत हो, यह तुम्हें भविष्य में पाप न करने में सहायक होगा। यों पुराने पापकर्मों के तपस्या द्वारा क्षय हो जाने एवं नये कर्मों के न किये जाने से भविष्य में तुम लोग क्षीणकर्मा हो जाओगे। कर्मों के क्षीण हो जाने से तुम्हारा समग्र दुःख विनष्ट हो जायेगा। दुःखनाश से तुम्हारी सभी वेदनाओं (कुशल-अकुशल अनुभूतियों) का नाश हो जायेगा। यों, वेदनाओं के नाश से तुम्हारा सभी प्रकार का दुःख निर्जीर्ण हो जायेगा। उनका यह कहना हमको रुचता है, अच्छा लगता है, इससे हम सन्तुष्ट हैं।''

इस प्रकार गौतमबुद्ध के समय भगवान् महावीर सर्वज्ञ के रूप में प्रसिद्ध थे और जिज्ञासुओं के मन में उठनेवाली उपर्युक्त जिज्ञासाओं से वे परिचित थे तथा सर्वज्ञ होने के कारण उन्हें यह भी दिखाई देता था कि जिज्ञासाओं के ये चार ही प्रकार नहीं हैं, उनके परस्पर संयोग से कम से कम सात जिज्ञासाएँ हो सकती हैं। यथा—

१. क्या लोक शाश्वत है?
२. क्या लोक शाश्वत नहीं है?
३. क्या लोक शाश्वत है और शाश्वत नहीं है?

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

४. क्या लोक अवक्तव्य है?

५. क्या लोक शाश्वत है और अवक्तव्य है?

६. क्या लोक शाश्वत नहीं है और अवक्तव्य है?

७. क्या लोक शाश्वत है, शाश्वत नहीं है और अवक्तव्य है?

सारी जिज्ञासाएँ इन सात जिज्ञासाओं में समाविष्ट हो जाती हैं। उनका अपुनरुक्त परस्पर संयोग करने पर वे सात से अधिक नहीं हो सकतीं। भगवान् महावीर जैसे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के लिए गणित का यह सरल नियम अदृष्ट नहीं रह सकता था। इन सात जिज्ञासाओं का समाधान वे स्याद्वाद के द्वारा करते थे। अतः नय-प्रमाण-सप्तभंगी के विकास की परिस्थितियाँ भगवान् महावीर के ही युग में विद्यमान थीं और उसका विकास भगवान् महावीर के द्वारा ही किया गया, यह युक्तितः सिद्ध होता है।

६.३. बादरायण व्यास द्वारा सप्तभंगी की आलोचना

'ब्रह्मसूत्र' के कर्त्ता श्री बादरायण व्यास का समय भारतीय और विदेशी विद्वानों ने ५०० ई० पू० से २०० ई० पू० के बीच निर्धारित किया है।[१७५] श्री व्यास ने ब्रह्मसूत्र में **'नैकस्मिन्नसम्भवात्'** (२/२/३३) सूत्र द्वारा जैनदर्शन के अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी की आलोचना की है। सूत्र का अर्थ है 'एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते।' इसका भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं—

"निरस्तः सुगतसमयः। विवसनसमय इदानीं निरस्यते। सप्त चैषां पदार्थाः सम्मता जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा नाम। संक्षेपतस्तु द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाख्यौ। यथायोगं तयोरेवेतरान्तर्भावादिति मन्यन्ते। तयोरिममपरं प्रपञ्चमाचक्षते पञ्चास्तिकाया नाम—जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायश्चेति। सर्वेषामप्येषामवान्तरप्रभेदान् बहुविधान् स्वसमयपरिकल्पितान् वर्णयन्ति। सर्वत्र चेमं सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति। एवमेवैकत्वनित्यत्वादिष्वपीमं सप्तभङ्गीनयं योजयन्ति। अत्राचक्ष्महे—नायमभ्युपगमो युक्त

---

१७५. "Keith holds that Bādarāyāṇa can not be dated later than A.D.200. Indian Scholars are of opinion that the Sūtra was composed in the period from 500 to 200 B.C. Fraser assigns it to 400 B.C. Max Muller says : "Whatever the date of the Bhagavadgīta is, and it is a part of the Mahābhārata the age of the vēdanta sūtra and of Bādarāyāṇa must have been earlier." Indian Philosophy, Volume II, by S. Rādhākrishṇan / Page 433.

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इति। कुतः? एकस्मिन्नसम्भवात्। न ह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत् सत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति शीतोष्णवत्।'' (शांकरभाष्य/ब्रह्मसूत्र २/२/३३/पृ.२५२-२५३)।

अनुवाद—''बौद्धमत का निरसन कर दिया गया। अब निर्वस्त्रों (दिगम्बर जैनों) के मत का निरसन करते हैं। ये लोग सात पदार्थ मानते हैं : जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष। संक्षेप में तो दो ही पदार्थ हैं : जीव और अजीव। शेष का इन दोनों में अन्तर्भाव मानते हैं। ये दोनों पदार्थ पंचास्तिकाय नाम से भी वर्णित किये गये हैं : जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय। इन सब के स्वमत-परिकल्पित बहुविध भेद बतलाये गये हैं। इन सब में वे 'सप्तभंगीनय' नामक न्याय का प्रयोग करते हैं, जैसे-स्याद् है। स्याद् नहीं है। स्याद् है और स्याद् नहीं है। स्याद् अवक्तव्य है। स्याद् है और अवक्तव्य भी है। स्याद् नहीं है और अवक्तव्य भी है। स्याद् है, स्याद् नहीं है तथा अवक्तव्य भी है। इसी प्रकार वे एकत्व, नित्यत्व आदि में भी सप्तभंगीनय की योजना करते हैं। यहाँ हमारा कहना है कि यह मान्यता समीचीन नहीं है। क्योंकि जैसे शीत और उष्ण धर्म एक साथ नहीं रह सकते, वैसे ही एक वस्तु में सत्त्व-असत्त्व आदि विरुद्ध धर्म भी युगपत् नहीं रह सकते।''

ब्रह्मसूत्रकार एवं भाष्यकार का यह तर्क समीचीन नहीं है, क्योंकि परस्परविरुद्ध धर्म दो प्रकार के होते हैं : १. सहावस्थान-विरोधी (जिनका एकसाथ रहना संभव नहीं है) और २. सहावस्थान-अविरोधी (जिनका एक साथ रहना संभव है)। स्वर्ण में स्वर्णत्व का कभी अभाव न होने से स्वर्णत्वरूप से अर्थात् द्रव्यरूप से नित्यता और आकृति के परिवर्तनशील होने से पर्यायरूप से अनित्यता, ये दोनों परस्परविरुद्ध धर्म एक साथ विद्यमान होते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

''**द्रव्यं नित्यमाकृतिरनित्या --- सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्त-सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसदृशे कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या चान्या भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।**'' (व्याकरणमहाभाष्य/पस्पशाह्निक)।

अनुवाद—''द्रव्य नित्य है, आकृति अनित्य। सुवर्ण किसी आकार से युक्त होकर पिण्डरूप धारण करता है। पिण्डाकृति को नष्ट कर उसके रुचक (आभूषणविशेष) बनाये जाते हैं। रुचकाकृति का विनाशकर उसे कड़ों का रूप दिया जाता है। कड़ों का आकार मिटाकर उसे स्वस्तिकों के रूप में ढाला जाता है। स्वस्तिकों को गलाकर पुनः स्वर्णपिण्ड बना दिया जाता है और वह पिण्ड पुनः अन्य आकृति से युक्त होकर

खदिराङ्गारसदृश दो कुण्डलों के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार आकृति अन्य-अन्य होती जाती है, किन्तु द्रव्य वही का वही रहता है। आकृति के नष्ट होने पर द्रव्य ही अवशिष्ट रहता है।''

बौद्धों के एक दोषान्वेषण का खण्डन करते हुए 'पातञ्जलयोगदर्शन' के भाष्य में श्री व्यास कहते हैं—

''**अयमदोषः। कस्मात्? एकान्तानभ्युपगमात्। तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति। कस्मात्? नित्यत्वप्रतिषेधात्। अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्।**'' (विभूतिपाद/सूत्र १३)।

अनुवाद—''यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि हम प्रकृति को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य नहीं मानते, अपितु नित्यानित्य मानते हैं। यह त्रैलोक्य (तदन्तर्गत पदार्थ) बाह्यरूप की अपेक्षा नष्ट होता है, क्योंकि नित्यत्व का प्रतिषेध है। नष्ट होकर भी विद्यमान रहता है, क्योंकि विनाश (अनित्यत्व) का निषेध है।''

इसी तरह वृक्ष में वृक्षत्वरूप से एकत्व और स्कन्ध-शाखा-पत्रादिरूप से अनेकत्व एक साथ उपलब्ध होते हैं। तथा वृक्ष स्कन्ध-शाखा-पत्रादिरूप ही होता है, इस अपेक्षा से स्कन्ध-शाखा पत्रादि का वृक्ष से अभेद है। किन्तु वृक्ष के नाम-लक्षण आदि अन्य हैं और स्कन्ध-शाखा-पत्रादि के नाम-लक्षण आदि अन्य, इस अपेक्षा से उनमें परस्पर भेद भी है। आत्मादि द्रव्यों में अपने चैतन्यादिरूप की सत्ता और पुद्गलादि पर द्रव्यों के जड़रूप की असत्ता सदा पायी जाती है। '**सच्चासत्**' (विद्यमान पदार्थ भी अविद्यमान होता है) इस वैशेषिकसूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर मिश्र लिखते हैं—

''**यत्र सदेव घटादि असदिति व्यवह्रियते तत्र तादात्म्याभावः प्रतीयते। भवति हि असन्नश्वो गवात्मना, असन् गौरश्वात्मना---।**'' (वैशेषिकसूत्रोपस्कार / ९ / १ / ४)।

अर्थात् जहाँ सत् घट भी असत् कहा जाता है, वहाँ तादात्म्याभाव प्रतीत होता है, क्योंकि अश्व गोरूप से असत् होता है, और गो अश्वरूप से।

मीमांसक कुमारिल भट्ट ने भी वस्तु को स्वरूप से सत् और पररूप से असत् प्रतिपादित किया है—

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किञ्चन कदाचन॥

(मीमांसाश्लोकवार्तिक / आकृतिवाद १०)।

पातञ्जलयोगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने पदार्थ को सामान्य और विशेष, इन परस्पर विरुद्ध धर्मों से समन्वित बतलाया है—''**सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य।**'' (समाधिपाद/ सूत्र ७)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

मीमांसक कुमारिल भट्ट वस्तु की सामान्य-विशेषात्मकता का प्रतिपादन करते हुए मीमांसाश्लोकवार्तिक में कहते हैं—"विशेषरहित सामान्य और सामान्यरहित विशेष शशविषाण के समान असत् है। अर्थात् एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है"—

निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि॥

उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप को परस्पर विरुद्ध धर्मों से युक्त बतलाया गया है। यथा—

क— "**अणोरणीयान्महतो महीयान्**" = वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। (कठोपनिषद्/१/२/२०)।

ख—"**तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके**" = वह चलता है, नहीं भी चलता है। वह दूर भी है, पास भी है। (ईशावास्योपनिषद्/५)।

ग—"**क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तम्**" = वह क्षर भी है, अक्षर भी। व्यक्त भी है, अव्यक्त भी। (श्वेताश्वतरोपनिषद्/१/८)।

ये सभी परस्परविरुद्ध धर्म सहावस्थान-अविरोधी हैं। किन्तु शीत और उष्ण, चेतनत्व और अचेतनत्व, ब्रह्मचारित्व और अब्रह्मचारित्व इत्यादि परस्परविरुद्ध धर्मों का एक साथ रहना संभव नहीं है, अतः ये सहावस्थान-विरोधी हैं। अनेकान्तवाद वस्तु में सभी प्रकार के विरुद्ध धर्मों का अस्तित्व नहीं मानता, अपितु जो सहावस्थान-अविरोधी हैं, उन्हीं की सत्ता स्वीकार करता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए श्री वीरसेन स्वामी कहते हैं—

"**अस्त्वेकस्मिन्नात्मनि भूयसां सहावस्थानं प्रत्यविरुद्धानां सम्भवो नाशेषाणामिति चेत्क एवमाह समस्तानामप्यवस्थितिरिति, चैतन्याचैतन्यभव्याभव्यादिधर्माणामप्यक्रमेणैकात्म-न्यवस्थितिप्रसङ्गात्। किन्तु येषां धर्माणां नात्यन्ताभावो यस्मिन्नात्मनि तत्र कदाचित् क्वचिद-क्रमेण तेषामस्तित्वं प्रतिजानीमहे।**" (धवला/ष.ख./पु.१/१,११/पृ.१६८)।

अनुवाद

शंका—"जिन धर्मों का एक आत्मा में एक साथ रहने में विरोध नहीं है, वे रह सकते हैं, किन्तु सभी धर्मों का एक साथ एक आत्मा में रहना संभव नहीं है।

समाधान—"यह कौन कहता है कि परस्परविरोधी और अविरोधी सभी प्रकार के धर्मों का आत्मा में एक साथ रहना संभव है? यदि सभी प्रकार के धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जाय, तो चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मों के भी एक आत्मा में एक साथ रहने का प्रसंग आ जायेगा। इसलिए सभी प्रकार के परस्पर-विरोधी धर्म एक आत्मा में रहते हैं, **अनेकान्त** का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए, अपितु जिस आत्मा में जिन धर्मों का अत्यन्त (सर्वथा) अभाव नहीं है, वे किसी काल और किसी क्षेत्र की अपेक्षा युगपत् उस आत्मा में होते हैं, यह अनेकान्त का अभिप्राय है।"

अत: जिस विरुद्ध धर्म का वस्तु में अत्यन्ताभाव होता है, वह सद्रूप या अस्तिरूप से अनेकान्त का अंग नहीं होता, अपितु असद्रूप या नास्तिरूप से (अनेकान्त का अंग) होता है। जैसे आत्मा चैतन्यरूप से सत् है और अचैतन्यरूप (पुद्गलादिरूप) से असत्। इसी प्रकार अग्नि उष्णरूप से सत् है और शीतरूप से असत्। अत: अग्नि में उष्ण और शीत धर्म युगपत् नहीं रह सकते। इसी कारण तो उसमें सत्त्व और असत्त्वरूप दो परस्पर विरुद्ध धर्मों का होना सिद्ध होता है। अग्नि में उष्णत्व का होना सत्त्वधर्म का होना है और शैत्य का न होना असत्त्व धर्म का होना है। अत: मान्य शंकराचार्य जी का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि "जैसे एक वस्तु में शीत और उष्ण धर्म एक साथ नहीं रह सकते, वैसे ही सत्त्व-असत्त्वादि धर्म भी एक साथ नहीं रह सकते।" उपर्युक्त युक्तियों और वैदिक-औपनिषदिक दार्शनिकों के वचनों से सिद्ध है कि एक वस्तु में शीत और उष्ण जैसे सहावस्थान-विरोधी परस्परविरुद्ध धर्म तो नहीं रह सकते, किन्तु सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि सहावस्थान-अविरोधी विरुद्ध धर्मों के रहने में कोई बाधा नहीं है। अत: शीत-उष्ण धर्मों के एक साथ न रहने के दृष्टान्त से सत्त्व-असत्त्वादि का एक साथ रहना असंगत सिद्ध नहीं होता। इसलिए अनेकान्तवाद, स्याद्वाद एवं सप्तभंगीनय की ब्रह्मसूत्रकार श्री बादरायण व्यास एवं भाष्यकार आचार्य शंकर द्वारा की गई आलोचना समीचीन नहीं है।

किन्तु, मुख्य विषय यहाँ यह है कि उपर्युक्त सिद्धान्तों की आलोचना ५०० से २०० ई० पू० में हुए ब्रह्मसूत्र के कर्त्ता श्री बादरायण व्यास द्वारा की गई है, इससे सिद्ध होता है कि सप्तभंगीनय ईसा से भी कई सौ वर्ष पहले प्रसिद्ध था। अत: 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने जो उसे तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित माना है, वह सर्वथा मिथ्या है, एक बड़ी कपोलकल्पना है। यह भगवतीसूत्र में सप्तभंगीनय के उल्लेख, भगवान् महावीर के युग में सप्तभंगीनय के विकासयोग्य परिस्थितियों के अस्तित्व तथा 'ब्रह्मसूत्र' में सप्तभंगीनय की आलोचना, इन तीन-तीन प्रमाणों से सिद्ध है। अत: उक्त ग्रन्थलेखक ने जो इस कपोलकल्पना के द्वारा कुन्दकुन्द

को तत्त्वार्थसूत्रकार का उत्तरकालीन सिद्ध करने की चेष्टा की है, वह विफल हो जाती है और कुन्दकुन्द निर्विवादरूप से तत्त्वार्थसूत्रकार के पूर्ववर्ती ही ठहरते हैं।

६.४. 'स्यात्' निपात का प्रयोग बौद्धसाहित्य में भी

सप्तभंगीनय में 'स्याद्' निपात का प्रयोग होता है। यह प्रयोग भी बहुत पुराना है। प्राचीन बौद्धसाहित्य में भी इसका प्रयोग हुआ है, जो अनिश्चितता या संशय का सूचक न होकर निश्चितता का द्योतन करता है। इस पर प्रकाश डालते हुए स्व० पं० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य लिखते हैं—

"स्यात् शब्द के प्रयोग से साधारणतया लोगों को संशय, अनिश्चय और संभावना का भ्रम होता है। पर, यह तो भाषा की पुरानी शैली है उस प्रसंग की, जहाँ एक वाद का स्थापन नहीं किया जाता। एकाधिक भेद या विकल्प की सूचना जहाँ करनी होती है, वहाँ 'सिया' (स्यात्) पद का प्रयोग भाषा की विशिष्ट शैली का रूप रहा है, जैसा कि 'मज्झिमनिकाय' के 'महाराहुलोवादसुत्त' के अवतरण से विदित होता है। इसमें तेजोधातु के दोनों सुनिश्चित भेदों की सूचना 'सिया' शब्द देता है,[१७६] न कि उन भेदों का अनिश्चय, संशय या सम्भावना व्यक्त करता है। इसी तरह 'स्यादस्ति' के साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द 'अस्ति' की स्थिति को निश्चित अपेक्षा से दृढ़ तो करता ही है, साथ ही साथ अस्ति से भिन्न और भी अनेक धर्म वस्तु में हैं, पर वे विवक्षित न होने से इस समय गौण हैं, इस सापेक्ष स्थिति को भी बताता है।" (जैन दर्शन/पृ.५१९)।

इस सन्दर्भ को उद्धृत करने का अभिप्राय यह दर्शाना है कि यदि स्याद्वादमय सप्तभंगीनय को विकसित ही माना जाय, तो उसके विकास की सम्पूर्ण सामग्री एवं परिस्थितियाँ भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध के ही युग में विद्यमान थीं, उत्तरकाल में नहीं, अतः उसे तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित मानना किसी भी तरह न्याय्य नहीं है। वह पूर्णतः भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट है। अतः ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उसका उल्लेख होना युक्तिसंगत है।

---

१७६. "कतमा च राहुल! तेजोधातु? तेजोधातु सिया अज्झत्तिका, सिया बाहिरा।"=राहुल तेजोधातु (अग्नि) क्या है? तेजो धातु भी आन्तर और बाह्य (भेद से दो प्रकार की) हो सकती है। (महाराहुलोवादसुत्त / मज्झिमनिकायपालि / २. मज्झिमपण्णासक / पृ.५८२)।

✧✧✧

षष्ठ प्रकरण

प्रो० ढाकी के मत का निरसन

प्रो० एम० ए० ढाकी ने अपना एक लेख, जिसका शीर्षक "The Date Of Kundakundācārya" है Aspects of Jainology, vol. III, (P.V. Research Institute, Varanasi—5) में प्रकाशित किया है। उसमें उन्होंने स्वसम्प्रदायी विचारकों के पदचिह्नों पर चलते हुए प्रमाणों पर परदा डालकर अप्रामाणिक अर्थात् कपोलकल्पित हेतुओं के आधार पर कुन्दकुन्द का अस्तित्वकाल निर्धारित करने की चेष्टा की है।

प्रो० ढाकी ने कुन्दकुन्द को ८ वीं शताब्दी ई० में वर्तमान सिद्ध करने के लिए पहली मनमानी चेष्टा तो यह की है कि कुन्दकुन्द से परवर्ती आचार्यों को उनसे पूर्ववर्ती बतलाया है, दूसरी यह कि उनके काल में भी मनमाना परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ उमास्वाति का अस्तित्वकाल ३७५-४०० ई०, सिद्धसेन दिवाकर का ५ वीं शताब्दी ई०, पुष्पदन्त और भूतबलि का ५ वीं शती ई० का अन्त एवं ६ वीं शती का आरंभ, समन्तभद्र का ५७५-६२५ ई०, पूज्यपाद देवनन्दी का ६३५-६८५ ई०, भट्ट अकलंक का ७२०-७८० ई०, और आचार्य कुन्दकुन्द का ८ वीं शती ई० का उत्तरार्ध दिखलाया है।[१७७] यह सर्वथा अप्रामाणिक है। मैंने पूर्व में उन प्रमाणों और युक्तियों को प्रदर्शित किया है, जिनसे आचार्य गुणधर का अस्तित्व ईसापूर्व द्वितीय शती के उत्तरार्ध में, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में, कुन्दकुन्द का ईसापूर्व प्रथम शती के उत्तरार्ध एवं ईसोत्तर प्रथम शती के पूर्वार्ध में, उमास्वामी का प्रथमशती के उत्तरार्ध तथा द्वितीय शती के पूर्वार्ध में और पूज्यपाद देवनन्दी का ४५० ई० में सिद्ध होता है। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने समन्तभद्र-साहित्य का गम्भीर अनुशीलन कर उनका अस्तित्वकाल १२०-१८५ ई० निर्धारित किया है। तथा सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन का अस्तित्व छठी शताब्दी ई० एवं भट्ट अकलंकदेव की स्थिति ७ वीं शताब्दी ई० में होने के प्रमाण मिलते हैं।

ढाकी जी ने जिन कपोलकल्पित हेतुओं के द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द को ईसा की ८वीं शती में उत्पन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, उनका प्रदर्शन और निरसन नीचे किया जा रहा है।

---

१७७. Aspects of Jainology, vol. III, P.V. Research Institute, Varanasi-5, pp. 187, 191, 193. (उमास्वाति, सिद्धसेन, समन्तभद्र, पूज्यपाद देवनन्दी, भट्ट अकलंक/पृष्ठ 187, पुष्पदन्त, भूतबलि/पृष्ठ 191, आचार्य कुन्दकुन्द/पृ.193)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

षष्ठ प्रकरण

प्रो० ढाकी के मत का निरसन

प्रो० एम० ए० ढाकी ने अपना एक लेख, जिसका शीर्षक "The Date Of Kundakundācārya" है Aspects of Jainology, vol. III, (P.V. Research Institute, Varanasi—5) में प्रकाशित किया है। उसमें उन्होंने स्वसम्प्रदायी विचारकों के पदचिह्नों पर चलते हुए प्रमाणों पर परदा डालकर अप्रामाणिक अर्थात् कपोलकल्पित हेतुओं के आधार पर कुन्दकुन्द का अस्तित्वकाल निर्धारित करने की चेष्टा की है।

प्रो० ढाकी ने कुन्दकुन्द को ८ वीं शताब्दी ई० में वर्तमान सिद्ध करने के लिए पहली मनमानी चेष्टा तो यह की है कि कुन्दकुन्द से परवर्ती आचार्यों को उनसे पूर्ववर्ती बतलाया है, दूसरी यह कि उनके काल में भी मनमाना परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ उमास्वाति का अस्तित्वकाल ३७५-४०० ई०, सिद्धसेन दिवाकर का ५ वीं शताब्दी ई०, पुष्पदन्त और भूतबलि का ५ वीं शती ई० का अन्त एवं ६ वीं शती का आरंभ, समन्तभद्र का ५७५-६२५ ई०, पूज्यपाद देवनन्दी का ६३५-६८५ ई०, भट्ट अकलंक का ७२०-७८० ई०, और आचार्य कुन्दकुन्द का ८ वीं शती ई० का उत्तरार्ध दिखलाया है।[१७७] यह सर्वथा अप्रामाणिक है। मैंने पूर्व में उन प्रमाणों और युक्तियों को प्रदर्शित किया है, जिनसे आचार्य गुणधर का अस्तित्व ईसापूर्व द्वितीय शती के उत्तरार्ध में, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में, कुन्दकुन्द का ईसापूर्व प्रथम शती के उत्तरार्ध एवं ईसोत्तर प्रथम शती के पूर्वार्ध में, उमास्वामी का प्रथमशती के उत्तरार्ध तथा द्वितीय शती के पूर्वार्ध में और पूज्यपाद देवनन्दी का ४५० ई० में सिद्ध होता है। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने समन्तभद्र-साहित्य का गम्भीर अनुशीलन कर उनका अस्तित्वकाल १२०-१८५ ई० निर्धारित किया है। तथा सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन का अस्तित्व छठी शताब्दी ई० एवं भट्ट अकलंकदेव की स्थिति ७ वीं शताब्दी ई० में होने के प्रमाण मिलते हैं।

ढाकी जी ने जिन कपोलकल्पित हेतुओं के द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द को ईसा की ८वीं शती में उत्पन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, उनका प्रदर्शन और निरसन नीचे किया जा रहा है।

---

१७७. Aspects of Jainology, vol. III, P.V. Research Institute, Varanasi-5, pp. 187, 191, 193. (उमास्वाति, सिद्धसेन, समन्तभद्र, पूज्यपाद देवनन्दी, भट्ट अकलंक/पृष्ठ 187, पुष्पदन्त, भूतबलि/पृष्ठ 191, आचार्य कुन्दकुन्द/पृ.193)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

१

८वीं शती ई. से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कुन्दकुन्द का उल्लेख नहीं

प्रो० ढाकी लिखते हैं—"स्वामी समन्तभद्र, पूज्यपाद देवनन्दी और भट्टअकलंक ने अपने ग्रन्थों में न तो कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख किया है, न ही उनकी गाथाएँ उद्धृत की हैं, और न उनके विचारों का प्रभाव उनके लेखन पर दृष्टिगोचर होता है। (Asp. of Jaino., vol.III, p.187)। उक्त तीनों आचार्यों ने उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर टीकाएँ लिखी हैं, किन्तु कुन्दकुन्द के किसी भी ग्रन्थ पर टीका लिखने का प्रयत्न नहीं किया। उनके ग्रन्थों पर सर्वप्रथम टीका नौवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध तथा दसवीं के पूर्वार्ध में हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखी है। इसके अतिरिक्त हरिवंशपुराणकार जिनसेन तथा आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन ने अपने ग्रन्थों में समन्तभद्र, पूज्यपाद देवनन्दी, सिद्धसेन, वीरसेन आदि के गुणों का कीर्तन तो किया है, किन्तु कुन्दकुन्द का नाम नहीं लिया। इससे सिद्ध होता है कि इन आचार्यों के काल तक कुन्दकुन्द का जन्म ही नहीं हुआ था।" (Asp. of Jaino.,vol. III, pp.188-189)।

निरसन

मूलाचार आदि में कुन्दकुन्द की गाथाएँ

प्रथम प्रकरण में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की वे गाथाएँ उद्धृत की गयी है, जिन्हें प्रथम शती ई० के ग्रन्थ 'भगवती-आराधना' और 'मूलाचार' में आत्मसात् किया गया है, उन गाथांशों के उदाहरण दिये गये हैं, जिनको संस्कृत में परिवर्तित कर प्रथम-द्वितीय शती ई० के उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थ' के अनेक सूत्रों की रचना की है, वे अनेक गाथाएँ बतलायी गयी हैं जिनको द्वितीय शती ई० के आचार्य यतिवृषभ ने 'तिलोयपण्णत्ती' का अंग बनाया है। पाँचवीं शती ई० के पूज्यपाद स्वामी ने 'तत्त्वार्थ' के सूत्रों में प्रतिपादित मन्तव्यों को प्रमाणित करने के लिए कुन्दकुन्द की जिन गाथाओं को आगमप्रमाण के रूप में उद्धृत किया है तथा 'समाधितन्त्र' और 'इष्टोपदेश' में संस्कृत रूप देकर अपनाया है, उन्हें भी सामने रखा गया है। कुन्दकुन्द की जो गाथाएँ छठी शताब्दी ई० के जोइन्दुदेव ने 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' में दोहों के रूप में तथा सातवीं शती ई० के जटासिंहनन्दी ने 'वरांगचरित' में संस्कृतपद्यों की आकृति में समाविष्ट की हैं, उनका भी साक्षात्कार कराया गया है। ईसा की आठवीं शताब्दी के अपराजित सूरि ने 'विजयोदया' टीका में तथा वीरसेन स्वामी ने 'धवला' एवं 'जयधवला' टीकाओं में कुन्दकुन्द की जिन गाथाओं को प्रमाणरूप में उपस्थित किया है, उनका भी विस्तार से उल्लेख किया गया है। और वहाँ इस बात के प्रमाण भी

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

दिये गये हैं कि वे गाथाएँ मूलतः कुन्दकुन्द के ही ग्रन्थों की हैं, किसी अन्य ग्रन्थ की नहीं।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि ईसोत्तर प्रथम शती की 'भगवती-आराधना' और 'मूलाचार' से लेकर आठवीं शती ई० की 'विजयोदया' और 'धवला' तक के कर्त्ता कुन्दकुन्द-साहित्य से न केवल सुपरिचित थे, अपितु उसे प्रामाणिक भी मानते थे। इसीलिए ग्रन्थकारों ने कुन्दकुन्द की गाथाओं को आत्मसात् कर अपने ग्रन्थों का स्तर ऊँचा उठाया है और टीकाकारों ने उनके वचनों को उद्धृत कर अपने प्रतिपादन को प्रामाणिक सिद्ध किया है। अतः प्रो० ढाकी का यह कथन शतप्रतिशत मिथ्या है कि "दसवीं शताब्दी ई० (टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य) के पूर्व तक जैन ग्रन्थकारों पर कुन्दकुन्द के साहित्य का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता, न ही उनके ग्रन्थों में कुन्दकुन्द-साहित्य से गृहीत वास्तविक और असंदिग्ध उद्धरण मिलते हैं,[१७८] अतः उनका जन्म दसवीं शताब्दी ई० से सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले ही हुआ होगा।" सर्वार्थसिद्धि, विजयोदया और धवला में कुन्दकुन्द-साहित्य से जो गाथाएँ उद्धृत की गई हैं, उनके कुन्दकुन्दरचित होने की असंदिग्धता इससे सिद्ध है कि वे उक्त टीकाओं में '**उक्तं च**' शब्दों का प्रयोगकर उद्धृत की गई हैं तथा वे केवल कुन्दकुन्द-साहित्य में ही मिलती हैं, अन्यत्र नहीं। वीरसेन स्वामी ने तो **पंचत्थिपाहुड** नाम लेकर पंचास्तिकाय से कई गाथाएँ उद्धृत की हैं, जिससे उनके पंचास्तिकाय से उद्धृत किये जाने में तो कोई बालक भी सन्देह नहीं कर सकता। तथा जो गाथाएँ भगवती-आराधना और मूलाचार में अपनायी गयी हैं, उन्हें कुन्दकुन्दरचित सिद्ध करनेवाले अनेक प्रमाण और युक्तियाँ उपलब्ध हैं। उनका अवलोकन इन ग्रन्थों से सम्बन्धित अध्यायों में किया जा सकता है। प्रो० ढाकी का उपर्युक्त मिथ्या निष्कर्ष उनके अनुसन्धान के स्तर को सूचित करता है, वह यह ज्ञापित करता है कि उनकी शोधपद्धति कितनी उथली, सतही या साम्प्रदायिक पक्षपात से परिपूर्ण है, जिसमें कुन्दकुन्द को प्राचीन सिद्ध करनेवाले उपर्युक्त प्रमाणों पर परदा डाल कर यह मिथ्या अवधारणा उत्पन्न की गई है कि "दसवीं शताब्दी ई० के पूर्व तक किसी भी जैन ग्रन्थकार ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से गाथाएँ उद्धृत नहीं कीं।"

१७८.क— " For nine Centuries his writings and thoughts, did not meet with approval or recognition." (Aspcts of Jainology, Vol. III, p. 189.)

ख—"No earlier commentaries on, or genuine and undoubted quotations from this celebrated saint's great works are available." (Aspcts of Jainology, Vol. III, p. 193.)

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२

कुन्दकुन्दान्वय-लेखयुक्त मर्कराताम्रपत्र जाली

प्रो० ढाकी का कथन है कि "कुन्दकुन्दाचार्य का नाम किसी प्राचीन शिलालेख में नहीं मिलता। मर्करा-ताम्रपत्र-लेख में उत्कीर्ण संवत् ३८८ शकसंवत् नहीं है, इसलिए उसे ४६६ ई० का नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त शिलालेख-विशेषज्ञों ने उसे जाली बतलाया है।" (Asp. of Jaino., Vol.III, p.190)।

निरसन

पूर्णतः कृत्रिम नहीं, कुन्दकुन्दान्वय-उल्लेख प्राचीन

पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि मर्कराताम्रपत्र अंशतः कृत्रिम है, पूर्णतः नहीं। उसमें महाराज अविनीत या उसके मन्त्री के द्वारा शक सं० ३८८ (४६६ ई०) में तळवननगर के श्रीविजय-जिनालय के लिए कुन्दकुन्दान्वय के चन्दणन्दि-भटार को बदणेगुप्पे ग्राम दिये जाने का उल्लेख वास्तविक है। अतः ४६६ ई० के ताम्रपत्रलेख में कुन्दकुन्दान्वय का वर्णन होने से कुन्दकुन्द का स्थितिकाल उससे बहुत पहले सिद्ध होता है। फलस्वरूप प्रो० ढाकी की यह स्थापना मिथ्या साबित होती है कि कुन्दकुन्द ईसा की आठवीं शताब्दी में हुए थे।

३

८वीं शती ई. के राजा शिवमार के लिए प्रवचनसार की रचना

आचार्य जयसेन ने 'पंचास्तिकाय' की तात्पर्यवृत्ति के प्रारंभ में लिखा है कि कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के लिए पंचास्तिकाय की रचना की थी। ऐसा ही उन्होंने प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति (२/१०८) में प्रवचनसार की रचना के विषय में भी लिखा है। डॉ० के० बी० पाठक ने इन शिवकुमार महाराज का समीकरण ५वीं शती ई० के कदम्बवंशीय राजा शिवमृगेशवर्मा से तथा प्रो० ए० चक्रवर्ती ने प्रथम शती ई० के पल्लवराज शिवस्कन्द स्वामी (स्कन्द वर्मा प्रथम) से किया है। इस पर टिप्पणी करते हुए प्रो० ढाकी कहते हैं कि ये दोनों लेखक कुन्दकुन्द को प्राचीन मानते थे, इसलिए उन्होंने इसी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर कुन्दकुन्द का अस्तित्व प्राचीनकाल में ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। (Asp. of Jaino., Vol.III, p.192)। इस टिप्पणी के द्वारा प्रो० ढाकी ने स्वयं का भी परिचय दे दिया है। उन्होंने ठीक विपरीत मनोवृत्ति से ग्रस्त होकर अर्थात् कुन्दकुन्द को अत्यन्त अर्वाचीन सिद्ध करने की भावना से प्रेरित होकर उनके कालनिर्णय का उपक्रम किया है और ८वीं शताब्दी

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ई० के गंगवंशीय राजा शिवमार-द्वितीय को शिवकुमार महाराज घोषित कर दिया है। किन्तु शिवमार और शिवकुमार नामों में साम्य नहीं है, इसलिए उन्होंने यह कल्पना की है कि आचार्य जयसेन ने तो अपनी टीका में 'शिवमार' ही लिखा होगा, लेकिन आगे चलकर लिपिकार की भूल से 'शिवमार' के स्थान में 'शिवकुमार' लिखा गया होगा अथवा किसी ने जानबूझकर शिवकुमार कर दिया होगा।[१७९] इस प्रकार आठवीं सदी ई० में किसी शिवकुमार महाराज का अस्तित्व न होने पर भी प्रो० ढाकी ने एक बनावटी (काल्पनिक) शिवकुमार महाराज को खड़ा कर दिया है और कह दिया है कि "देखो, यही वे शिवकुमार महाराज थे, जिनके लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार की रचना की थी। अतः कुन्दकुन्द इन्हीं के काल में अर्थात् ८ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हुए थे।"

निरसन

जयसेनाचार्य-वर्णित शिवकुमार राजा नहीं थे

१. आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के लिए पंचास्तिकाय या प्रवचनसार की रचना की थी, यह बात न तो स्वयं कुन्दकुन्द ने कहीं लिखी है, न नौवीं शती ई० के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र जी ने। यह बात १२वीं शती ई०[१८०] के टीकाकार जयसेनाचार्य द्वारा कही गई है, जो बहुत अर्वाचीन थे। इस कथन का स्रोत क्या है, इसका कोई संकेत उन्होंने नहीं किया। किसी भी प्राचीन ग्रन्थ या शिलालेख से इस बात की पुष्टि नहीं होती। कुन्दकुन्द ने तो पंचास्तिकाय की १७३वीं गाथा में यह लिखा

---

१७९. "The foregoing discussion rather compels us to expect the king in question somewhere in the later part of the eighth century A.D.within the geographical, political and cultural ambit of Karṇāṭaka proper. Verily there is no king with the name Śivakumāra known to have flourished at that time. However, I seem to perceive that there could be a slight error, scribal or a deliberate emendation done at some later point, in the orthography of the name as it has come down to us through Jayasena's notice. For exactly at that time we meet the Gaṅga ruler Śivamāra II (last quarter of the 8th cent.A.D.) in Gaṅgavāḍi, a part of south-eastern Karṇāṭaka. It is for him, the luckless monarch who had to spend several years in Rāṣṭrakūṭa prison, that Kundakundācārya may have written his Pravacana-prābhṛta ! Kundakundācārya's writings, on this showing, seem to belong to the last quarter of the eighth century A.D., though the third quarter of the self-same century he may have spent in studies and preparation." (Aspects of Jainology, vol.III ,192-193).

१८०. डॉ. ए. एन. उपाध्ये : प्रवचनसार-प्रस्तावना / पृ. ९९।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२

कुन्दकुन्दान्वय-लेखयुक्त मर्कराताम्रपत्र जाली

प्रो० ढाकी का कथन है कि "कुन्दकुन्दाचार्य का नाम किसी प्राचीन शिलालेख में नहीं मिलता। मर्करा-ताम्रपत्र-लेख में उत्कीर्ण संवत् ३८८ शकसंवत् नहीं है, इसलिए उसे ४६६ ई० का नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त शिलालेख-विशेषज्ञों ने उसे जाली बतलाया है।" (Asp. of Jaino., Vol.III, p.190)।

निरसन

पूर्णतः कृत्रिम नहीं, कुन्दकुन्दान्वय-उल्लेख प्राचीन

पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि मर्कराताम्रपत्र अंशतः कृत्रिम है, पूर्णतः नहीं। उसमें महाराज अविनीत या उसके मन्त्री के द्वारा शक सं० ३८८ (४६६ ई०) में तळवननगर के श्रीविजय-जिनालय के लिए कुन्दकुन्दान्वय के चन्दणन्दि-भटार को बदणेगुप्पे ग्राम दिये जाने का उल्लेख वास्तविक है। अतः ४६६ ई० के ताम्रपत्रलेख में कुन्दकुन्दान्वय का वर्णन होने से कुन्दकुन्द का स्थितिकाल उससे बहुत पहले सिद्ध होता है। फलस्वरूप प्रो० ढाकी की यह स्थापना मिथ्या साबित होती है कि कुन्दकुन्द ईसा की आठवीं शताब्दी में हुए थे।

३

८वीं शती ई. के राजा शिवमार के लिए प्रवचनसार की रचना

आचार्य जयसेन ने 'पंचास्तिकाय' की तात्पर्यवृत्ति के प्रारंभ में लिखा है कि कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के लिए पंचास्तिकाय की रचना की थी। ऐसा ही उन्होंने प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति (२/१०८) में प्रवचनसार की रचना के विषय में भी लिखा है। डॉ० के० बी० पाठक ने इन शिवकुमार महाराज का समीकरण ५वीं शती ई० के कदम्बवंशीय राजा शिवमृगेशवर्मा से तथा प्रो० ए० चक्रवर्ती ने प्रथम शती ई० के पल्लवराज शिवस्कन्द स्वामी (स्कन्द वर्मा प्रथम) से किया है। इस पर टिप्पणी करते हुए प्रो० ढाकी कहते हैं कि ये दोनों लेखक कुन्दकुन्द को प्राचीन मानते थे, इसलिए उन्होंने इसी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर कुन्दकुन्द का अस्तित्व प्राचीनकाल में ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। (Asp. of Jaino., Vol.III, p.192)। इस टिप्पणी के द्वारा प्रो० ढाकी ने स्वयं का भी परिचय दे दिया है। उन्होंने ठीक विपरीत मनोवृत्ति से ग्रस्त होकर अर्थात् कुन्दकुन्द को अत्यन्त अर्वाचीन सिद्ध करने की भावना से प्रेरित होकर उनके कालनिर्णय का उपक्रम किया है और ८वीं शताब्दी

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ई० के गंगवंशीय राजा शिवमार-द्वितीय को शिवकुमार महाराज घोषित कर दिया है। किन्तु शिवमार और शिवकुमार नामों में साम्य नहीं है, इसलिए उन्होंने यह कल्पना की है कि आचार्य जयसेन ने तो अपनी टीका में 'शिवमार' ही लिखा होगा, लेकिन आगे चलकर लिपिकार की भूल से 'शिवमार' के स्थान में 'शिवकुमार' लिखा गया होगा अथवा किसी ने जानबूझकर शिवकुमार कर दिया होगा।[१७९] इस प्रकार आठवीं सदी ई० में किसी शिवकुमार महाराज का अस्तित्व न होने पर भी प्रो० ढाकी ने एक बनावटी (काल्पनिक) शिवकुमार महाराज को खड़ा कर दिया है और कह दिया है कि "देखो, यही वे शिवकुमार महाराज थे, जिनके लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार की रचना की थी। अतः कुन्दकुन्द इन्हीं के काल में अर्थात् ८ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हुए थे।"

निरसन

जयसेनाचार्य-वर्णित शिवकुमार राजा नहीं थे

१. आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के लिए पंचास्तिकाय या प्रवचनसार की रचना की थी, यह बात न तो स्वयं कुन्दकुन्द ने कहीं लिखी है, न नौवीं शती ई० के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र जी ने। यह बात १२वीं शती ई०[१८०] के टीकाकार जयसेनाचार्य द्वारा कही गई है, जो बहुत अर्वाचीन थे। इस कथन का स्रोत क्या है, इसका कोई संकेत उन्होंने नहीं किया। किसी भी प्राचीन ग्रन्थ या शिलालेख से इस बात की पुष्टि नहीं होती। कुन्दकुन्द ने तो पंचास्तिकाय की १७३वीं गाथा में यह लिखा

---

१७९. "The foregoing discussion rather compels us to expect the king in question somewhere in the later part of the eighth century A.D.within the geographical, political and cultural ambit of Karṇāṭaka proper. Verily there is no king with the name Śivakumāra known to have flourished at that time. However, I seem to perceive that there could be a slight error, scribal or a deliberate emendation done at some later point, in the orthography of the name as it has come down to us through Jayasena's notice. For exactly at that time we meet the Gaṅga ruler Śivamāra II (last quarter of the 8th cent.A.D.) in Gaṅgavāḍi, a part of south-eastern Karṇāṭaka. It is for him, the luckless monarch who had to spend several years in Rāṣṭrakūṭa prison, that Kundakundācārya may have written his Pravacana-prābhṛta ! Kundakundācārya's writings, on this showing, seem to belong to the last quarter of the eighth century A.D., though the third quarter of the self-same century he may have spent in studies and preparation." (Aspects of Jainology, vol.III ,192-193).

१८०. डॉ. ए. एन. उपाध्ये : प्रवचनसार-प्रस्तावना / पृ. ९९।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

है कि "मैंने सिद्धान्तप्ररूपण के अनुराग से प्रेरित होकर जिनशासन की प्रभावना के लिए द्वादशांगश्रुत का साररूप यह 'पंचास्तिकायसंग्रह' ग्रन्थ प्ररूपित किया है।"[१८१]

यदि उन्होंने इसका प्ररूपण किसी शिवकुमार महाराज के लिए किया होता, तो वे इस गाथा में या ग्रन्थ की किसी प्रारंभिक गाथा में इसका उल्लेख अवश्य करते, जैसा जोइन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश के प्रारंभ में लिखा है कि प्रभाकर भट्ट के परमात्मस्वरूप की जिज्ञासा करने पर उन्होंने उक्त ग्रन्थ की रचना की है।[१८२] किन्तु कुन्दकुन्द ने ऐसा उल्लेख न तो पञ्चास्तिकाय में किया है, न प्रवचनसार में।

२. तथा आचार्य जयसेन ने शिवकुमार महाराज को एक राजा के रूप में नहीं, अपितु मुनि के रूप में वर्णित किया है। इसलिए कुन्दकुन्द ने किसी राजा के लिए उक्त ग्रन्थों की रचना की थी, यह मानना प्रामाणिक नहीं है। अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि कोई अराजवंशीय शिवकुमार कुन्दकुन्द के प्रधान शिष्य हुए हों और उनके लिए उक्त ग्रन्थों की रचना किये जाने की कोई अनुश्रुति जयसेनाचार्य के कानों तक पहुँची हो, उसी के आधार पर उन्होंने उक्त उल्लेख किया है। इसकी चर्चा द्वितीय प्रकरण में की जा चुकी है।

३. आठवीं शताब्दी ई० में दक्षिणभारत में कोई शिवकुमार नाम का राजा था ही नहीं, प्रो० ढाकी ने यह बात स्वयं स्वीकार की है। तथा जयसेन ने 'शिवमार' नाम का प्रयोग किया था शिवकुमार का नहीं, इसे सत्य सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत प्रवचनसार की टीका में भी शिवकुमार नाम का प्रयोग होने से इस बात की पुष्टि होती है कि पंचास्तिकाय की टीका में भी 'शिवकुमार' नाम ही जयसेन द्वारा प्रयुक्त किया गया है। अतः आचार्य जयसेन ने शिवकुमार महाराज के लिए ही कुन्दकुन्द के द्वारा पंचास्तिकाय के लिखे जाने की बात कही है, शिवमार महाराज के लिए नहीं। और आठवीं शती ई० में कर्नाटक में कोई शिवकुमार नाम का राजा था नहीं, अतः जयसेन द्वारा कथित शिवकुमार कोई राजा नहीं थे, यह स्पष्ट

---

१८१. क— मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं॥ १७३॥ पञ्चास्तिकाय।
ख— पं० जुगलकिशोर मुख्तार : स्वामी समन्तभद्र/पृ.१६७-१६८।

१८२. भाविं पणविवि पंच-गुरु सिरि-जोइंदु-जिणाउ।
भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ॥ १/८॥
चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ।
चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि॥ १/१०॥
पुणु पुणु पणविवि पंचगुरु भावेँ चित्ति धरेवि।
भट्टपहायर णिसुणि तुहुँ अप्पा तिविहु कहेवि॥ १/११॥ परमात्मप्रकाश।

हो जाता है। इसलिए जयसेन के उपर्युक्त कथन के आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि कुन्दकुन्द आठवीं शती ई० के उत्तरार्ध में हुए थे।

४. शिवमार-द्वितीय के समय (७९७ ई०) में उत्कीर्ण मण्णे-ताम्रपत्रलेख में कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है,[१८३] जिससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्दान्वय के आदिपुरुष 'कुन्दकुन्द' शिवमार-द्वितीय से बहुत प्राचीन हैं।

५. प्रो० ढाकी ने शिवमार-द्वितीय का स्थितिकाल ८वीं शती ई० का अन्तिम चरण बतलाया है।[१८४] किन्तु इस शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए अपराजित सूरि ने अपनी विजयोदया टीका में कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों से गाथाएँ उद्धृत की हैं तथा आठवीं सदी के तृतीयचरण में धवलाटीका लिखनेवाले वीरसेन स्वामी ने भी अपनी टीका में समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि से गाथाएँ उद्धृत कर अपने वक्तव्य को पुष्ट किया है। ये उदाहरण इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि कुन्दकुन्द शिवमार-द्वितीय के समय से बहुत पहले उत्पन्न हुए थे।

इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रो० ढाकी का कुन्दकुन्द को आठवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में वर्तमान सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु कितना छलपूर्ण है। एक बनावटी शिवकुमार को खड़ा करके उन्होंने कुन्दकुन्द को आठवीं शताब्दी ई० का सिद्ध करने की कुटिल चेष्टा की है, जिसे उपर्युक्त प्रमाण विफल बना देते हैं।

४

८वीं शती ई. के कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव कुन्दकुन्द के गुरु

आचार्य जयसेन ने पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति का आरम्भ करते हुए यह भी लिखा है कि आचार्य कुन्दकुन्द कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव के शिष्य थे—"**अथ श्रीकुमारनन्दि-सिद्धान्तदेवशिष्यैः---श्रीमत्कुण्डकुन्दाचार्यदेवैः---विरचिते पञ्चास्ति-कायप्राभृतशास्त्रे---तात्पर्यार्थ-व्याख्यानं कथ्यते।**"

यतः प्रो० ढाकी कुन्दकुन्द को आठवीं शती ई० में वर्तमान सिद्ध करने का उद्देश्य लेकर चले थे, अतः उन्होंने आठवीं शती ई० के अन्तिम चरण में एक बनावटी कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव को भी खड़ा कर दिया। वे उसका परिचय देते हुए लिखते हैं—"कुन्दकुन्दान्वय के इन कुमारनन्दी का नाम गंगवाड़ी के राष्ट्रकूट शासक रणावलोक

१८३. "आसीत् तोरणाचार्य्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भवः।" जै. शि. सं./ मा. च. / भा.२ / ले. क्र.१२२।

१८४. "Śivamāra II (last quarter of the 8th cent.A.D.)" Aspects of Jainology, vol. III, p.192.

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

हो जाता है। इसलिए जयसेन के उपर्युक्त कथन के आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि कुन्दकुन्द आठवीं शती ई० के उत्तरार्ध में हुए थे।

४. शिवमार-द्वितीय के समय (७९७ ई०) में उत्कीर्ण मण्णे-ताम्रपत्रलेख में कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है,[१८३] जिससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्दान्वय के आदिपुरुष 'कुन्दकुन्द' शिवमार-द्वितीय से बहुत प्राचीन हैं।

५. प्रो० ढाकी ने शिवमार-द्वितीय का स्थितिकाल ८वीं शती ई० का अन्तिम चरण बतलाया है।[१८४] किन्तु इस शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए अपराजित सूरि ने अपनी विजयोदया टीका में कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों से गाथाएँ उद्धृत की हैं तथा आठवीं सदी के तृतीयचरण में धवलाटीका लिखनेवाले वीरसेन स्वामी ने भी अपनी टीका में समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि से गाथाएँ उद्धृत कर अपने वक्तव्य को पुष्ट किया है। ये उदाहरण इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि कुन्दकुन्द शिवमार-द्वितीय के समय से बहुत पहले उत्पन्न हुए थे।

इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रो० ढाकी का कुन्दकुन्द को आठवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में वर्तमान सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु कितना छलपूर्ण है। एक बनावटी शिवकुमार को खड़ा करके उन्होंने कुन्दकुन्द को आठवीं शताब्दी ई० का सिद्ध करने की कुटिल चेष्टा की है, जिसे उपर्युक्त प्रमाण विफल बना देते हैं।

४

८वीं शती ई. के कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव कुन्दकुन्द के गुरु

आचार्य जयसेन ने पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति का आरम्भ करते हुए यह भी लिखा है कि आचार्य कुन्दकुन्द कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव के शिष्य थे—"**अथ श्रीकुमारनन्दि-सिद्धान्तदेवशिष्यैः---श्रीमत्कुण्डकुन्दाचार्यदेवैः---विरचिते पञ्चास्ति-कायप्राभृतशास्त्रे---तात्पर्यार्थ-व्याख्यानं कथ्यते।**"

यतः प्रो० ढाकी कुन्दकुन्द को आठवीं शती ई० में वर्तमान सिद्ध करने का उद्देश्य लेकर चले थे, अतः उन्होंने आठवीं शती ई० के अन्तिम चरण में एक बनावटी कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव को भी खड़ा कर दिया। वे उसका परिचय देते हुए लिखते हैं—"कुन्दकुन्दान्वय के इन कुमारनन्दी का नाम गंगवाड़ी के राष्ट्रकूट शासक रणावलोक

१८३. "आसीत् तोरणाचार्य्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भवः।" जै. शि. सं./ मा. च. / भा.२ / ले. क्र.१२२।

१८४. "Śivamāra II (last quarter of the 8th cent.A.D.)" Aspects of Jainology, vol. III, p.192.

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कम्भराज के ताम्रपट्टिकोत्कीर्ण दानपत्र (वदनोगुप्पे-ताम्रपट्ट-दानपत्र / जै.शि.सं. / भा.ज्ञा. / भा.४ / ले.क्र.५४) में मिलता है। दानपत्र में लिखा है कि कम्भराज ने वर्धमानगुरु को शक सं० ७३० (८०८ ई०) में 'वदनोगुप्पे' ग्राम दान में दिया था। दानपत्र में वर्धमानगुरु का अन्वय इस प्रकार बतलाया गया है—कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव > एलवाचार्य > वर्धमानगुरु (८०८ ई०)।[१८५]

इस ताम्रपट्ट-दानपत्र का विवरण देकर प्रो० ढाकी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि "उक्त वंशपरम्परा में उल्लिखित कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव ही आचार्य जयसेन द्वारा निर्दिष्ट कुन्दकुन्द के गुरु थे और एलवाचार्य नाम से उसमें स्वयं कुन्दकुन्द का उल्लेख किया गया है, क्योंकि विजयनगर के १३८६ ई० के दीपस्तम्भलेख में कुन्दकुन्द के पाँच नाम बतलाये गये हैं : पद्मनन्दी, आचार्य कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृध्रपिच्छ। (जै.शि.सं./ मा.च./ भा.३ / ले.क्र.५८५)। यतः कुन्दकुन्द के गुरु ८ वीं शताब्दी ई० में विद्यमान थे, अतः कुन्दकुन्द का स्थितिकाल यही था।" दानपत्र में बहुप्रचलित नाम 'कुन्दकुन्द' को छोड़कर अल्पप्रचलित 'एलाचार्य' नाम का प्रयोग क्यों किया गया, इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए प्रो० ढाकी ने बहुत से अयुक्तियुक्त, अविश्वसनीय, अग्राह्य तर्क दिये हैं, क्योंकि उसका प्रयोग स्वयं उनके गले नहीं उतर रहा था।

निरसन

दानपत्र में न सिद्धान्तदेव का नाम है, न कुन्दकुन्द का

प्रो० ढाकी ने दानपत्र में प्रयुक्त नामों को यथावत् उद्धृत नहीं किया है, उसमें से कुछ अंश हटा दिया है और कुछ नया जोड़ दिया है। और इस इंजीनियरिंग के द्वारा उन्होंने जो कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव नहीं हैं, उन्हें कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव बना दिया है और जो कुन्दकुन्द नहीं हैं, उन्हें कुन्दकुन्द बना दिया है। वास्तविक नाम क्या हैं, इसकी जानकारी के लिए दानपत्र के मूलपाठ का सम्बन्धित अंश उद्धृत किया

185. "This Kumāranandi of koṇḍakundānvaya figures in a charter granted by the Rāṣṭrakūṭa governor of Gaṇgavādi, Prince Raṇāvaloka Kambharāja, in Ś.730, A.D. 808 from Badanoguppe, the charter noticed as far back as 1927. In that charter, for Vardhamānguru, who received the bequest of the village Badanoguppe, the following preceptorial lineage is given :

Kumāranandi Siddhāntadeva

∨

Elavācārya

∨

Vardhamāna-guru (A.D.808)

(Aspects of Jainology, Vol. III , p.191).

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जा रहा है—

"रणावलोक-श्री कम्भराजः पुन्नाड एडेनाडुविषये वदनोगुप्पे नाम ग्रामः तलवननगरं अधिवसति विजयस्कन्धावारे त्रिंशदुत्तरेष्वतीतेषु शकवर्षेषु कार्त्तिकमास-पौर्णमास्यां रोहिणीनक्षत्रे सोमवारे कोण्डकुन्देयान्वय-सिर्मलगेगूरुगण-**कुमारणन्दिभट्टारकस्य** शिष्यः **एलवाचार्यगुरुः** तस्य शिष्यो **वर्धमानगुरुः** सर्वप्रणिहितः साक्षात् सिद्धान्तनुगमोद्धतः शान्तः सर्वज्ञकल्पोऽयं नयोन्नत-गुणोन्नतः तस्मै तं ग्रामम् अदात् स्वपुत्र-श्रीशंकरगण्ण-विज्ञापनेन श्रीकम्भदेवः श्रीविजयवसतये तलवननगरे प्रतिष्ठितायै।" (जै. शि. सं./ भा. ज्ञा./ भा. ४/ले. क्र. ५४/ शक सं. ७३०/ ८०८ ई०)।

१. यहाँ हम देखते हैं कि दानपत्र में 'कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव' नाम नहीं है, अपितु 'कुमारणन्दिभट्टारक' नाम है, किन्तु प्रो० ढाकी ने वंशावली में 'कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव' नाम प्रदर्शित किया है। केवल इतने से ही बोध हो जाता है कि प्रो० ढाकी ने छलवाद के द्वारा ८ वीं शताब्दी ई० में कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। 'भट्टारक' शब्द आदर या विद्वत्तासूचक सामान्य उपाधि है। उससे मनुष्य की शास्त्रगत विशेषज्ञता का बोध नहीं होता। उसकी प्रतीति सिद्धान्तदेव, त्रैविद्यदेव, सिद्धान्तचक्रवर्ती आदि विशिष्ट उपाधियों के प्रयोग से ही होती है। यतः ये उपाधियाँ प्रत्यक्षतः प्रतिष्ठासूचक हैं, अतः जो मुनि या भट्टारक इन उपाधियों से विभूषित थे, उनके नाम के साथ इनका प्रयोग साहित्य और अभिलेखों में अनिवार्यतः हुआ है। ऐसा न किया जाना अविनय का सूचक होता। उपर्युक्त ताम्रपट्टिका-दानपत्र में कुमारनन्दी के साथ 'सिद्धान्तदेव' उपाधि का प्रयोग नहीं है, अपितु 'भट्टारक' उपाधि का प्रयोग है। इससे सिद्ध है कि वे सिद्धान्तदेव उपाधि से विभूषित नहीं थे। अतः वे आचार्य जयसेन द्वारा निर्दिष्ट कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव नहीं हैं।

२. १४ वीं शताब्दी ई० के शुभचन्द्र ने अपनी नन्दिसंघ की गुर्वावली में[१८६] तथा १५वीं शती ई० के श्रुतसागर सूरि ने[१८७] कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव को नहीं, अपितु जिनचन्द्र को कुन्दकुन्द का गुरु बतलाया है। इन ग्रन्थकारों के बीच अधिक समय का अन्तर नहीं है, फिर भी आचार्य जयसेन कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव को कुन्दकुन्द का गुरु कह रहे हैं और शुभचन्द्र जिनचन्द्र को। अतः कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव का कुन्दकुन्द का गुरु होना विवादास्पद है।

---

१८६. क—देखिए, अष्टम अध्याय के अन्त में 'विस्तृत सन्दर्भ'।
ख—" The Nandi Saṁgha gurvāvalī (A.D.14th cent.)" Aspects of Jainology, Vol.III , p.192.

१८७. "श्रीपद्मनन्दि-कुन्दकुन्दाचार्य-वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृध्रपिच्छाचार्यनाम-पञ्चकविराजितेन --- श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारक-पट्टाभरणभूतेन ---।" मोक्षप्राभृत / टीकाकर्तुः प्रशस्तिः।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३. कुन्दकुन्द ने उपर्युक्त दोनों में से किसी को भी अपना गुरु नहीं कहा। उन्होंने तो अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का परम्पराशिष्य बतलाया है। तथा नौवीं शताब्दी ई० के आचार्य अमृतचन्द्र तो कुन्दकुन्द और उनके गुरु दोनों के विषय में मौन हैं। इस कारण भी कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव को प्रामाणिक रूप से कुन्दकुन्द का गुरु नहीं माना जा सकता।

४. इसी प्रकार कथित दानपत्र में 'एलवाचार्य' नाम नहीं है, अपितु 'एलवाचार्यगुरु' नाम है, किन्तु प्रो० ढाकी ने वंशावली में केवल 'एलवाचार्य' नाम प्रदर्शित किया है। दानपत्र में एलवाचार्य और वर्धमान दोनों के साथ 'गुरु' शब्द जुड़ा हुआ है। यह नाम का ही अंग है, उपाधि नहीं। किन्तु, ढाकी जी ने 'वर्धमानगुरु' यह नाम तो ज्यों का त्यों प्रदर्शित किया है, पर 'एलवाचार्यगुरु' इस नाम से 'गुरु' शब्द हटा दिया है, जिससे वह 'एलाचार्य'-सदृश दिखने लगे। फिर भी एलवाचार्य और एलाचार्य समान नाम नहीं हैं। ढाकी जी ने कहा है कि 'एलवाचार्य' एलाचार्य का कन्नड़ रूप है।[१८८] किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। कन्नड़ लेख में भी जहाँ-जहाँ संस्कृत शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ केवल प्रत्यय ही कन्नड़ भाषा का प्रयुक्त हुआ है, मूलशब्द ज्यों का त्यों ग्रहण किया गया है, उसका कन्नड़ीकरण नहीं किया गया, जैसे 'चन्दणंदिभट्टारग्गें', 'श्रीविजयजिनालयक्के' आदि (मर्करा-ताम्रपत्रलेख)। तब संस्कृत लेख में संस्कृत शब्द के कन्नड़ीकरण या संस्कृत शब्द के स्थान में उसका कन्नड़ रूप प्रयुक्त किये जाने की कल्पना युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध है। अतः 'एलवाचार्य' शब्द में 'एलव' 'एल' का कन्नड़रूप न होकर कन्नड़ की स्वतंत्र व्यक्तिवाचक संज्ञा है, जैसे 'कोण्डकुन्द।' उसमें 'आचार्य' शब्द जोड़कर 'कोण्डकुन्दाचार्य' के समान 'एलवाचार्य' बना दिया गया है। विजयनगर भी कर्नाटक में ही था। वहाँ दीपस्तम्भ पर उत्कीर्ण संस्कृत शिलालेख (१३८६ ई०) में जो कुन्दकुन्द के पाँच नाम बतलाये गये हैं, उनमें 'एलाचार्य' शब्द का ही प्रयोग है,[१८९] 'एलवाचार्य' का नहीं। अतः पूर्वोक्त कम्भराज के दानपत्र में उल्लिखित एलवाचार्य को कुन्दकुन्द का नामान्तर मानकर उन्हें कुमारनन्दिभट्टारक का शिष्य घोषित करना एक अत्यन्त अप्रामाणिक कार्य है।

---

१८८. "What we find in the charter of A.D. 808, however, is the appelation 'Elavācāraya', seemingly a Kannaḍa (local? Dialectical?) variant of Elācārya." Aspects of Jainology, Vol.III , p.191.

१८९. श्री मूलसंघेऽजनि नंदिसंघ (स्त) स्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह **पद्मनंदी**॥ ३॥
आचार्य्य कुंड (कुंदा) ख्यो **वक्रग्रीवो** महामतिः।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पंचधा॥ ४॥ जै.शि.सं. / मा.च. / भा.३/ ले.क्र.५८५।

५. यदि 'एलवाचार्यगुरु' शब्द को कुन्दकुन्दाचार्य का पर्यायवाची माना जाय, तो एलवाचार्यगुरु कुन्दकुन्दान्वय में उत्पन्न सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि किसी भी आचार्य का अपने ही अन्वय में उत्पन्न होना संभव नहीं है। यदि प्रो० ढाकी यह मानते हों कि कुन्दकुन्दान्वय आचार्य कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्ध नहीं हुआ, अपितु 'कौण्डकुन्द' नामक ग्राम के नाम से प्रसिद्ध हुआ है, तो ऐसा ही हुआ है, इसे सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जब कि उमास्वाति आदि आचार्यों के कुन्दकुन्दाचार्य के अन्वय में उद्भूत होने का वर्णन अनेक शिलालेखों में मिलता है। सर्वप्रथम तो उसी विजयनगर-दीपस्तम्भलेख में मिलता है, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्य के पर्यायवाची 'एलाचार्य' नाम का उल्लेख है, और जिसके अर्वाचीन होने पर भी प्रो० ढाकी ने यह माना है कि भले ही वह लेख अर्वाचीन हो, पर संभव है कि उसमें कुन्दकुन्द और एलाचार्य के अभिन्न होने का उल्लेख उस समय प्रवर्तमान लिखित या श्रुतिगत परम्परा के आधार पर किया गया हो।[१९०] इसी युक्ति से यह भी मान्य है कि उक्त दीपस्तम्भलेख के लेखनकाल में लिखित या श्रुति के रूप में यह प्रमाण उपलब्ध था कि कुन्दकुन्दान्वय का प्रचलन आचार्य कुन्दकुन्द के नाम से हुआ है और उसमें अनेक मुनिरत्न उत्पन्न हुए हैं, इसीलिए उक्त लेख में इसका उल्लेख किया गया है।[१९१] इसके अतिरिक्त श्रवणबेल्गोल के ४०, ४२, ४३, ४७, १०५ और १०८ क्रमांकवाले शिलालेखों (जै.शि.सं./मा.च./भा.१) में भी कहा गया है कि आचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय में उमास्वाति का उद्भव हुआ था। 'कौण्डकुण्ड' ग्राम के नाम से केवल आचार्य कुन्दकुन्द का नाम प्रचलित हुआ है और कुन्दकुन्दान्वय की धारा उनसे ही प्रवाहित हुई है। उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व की ऊँचाई और असाधारण प्रतिष्ठा के कारण ऐसा होना स्वाभाविक ही था। अतः जहाँ एलवाचार्यगुरु के कुन्दकुन्दान्वय में उत्पन्न होने का उल्लेख हो, वहाँ 'एलवाचार्यगुरु' नाम आचार्य कुन्दकुन्द का वाचक हो ही नहीं सकता, क्योंकि किसी भी आचार्य का अपने ही अन्वय में उत्पन्न होना संभव

१९०. "In point of fact the Vijayanagar lamp-pillar inscription of Ś 1307/A.D. 1386, which enumerates five distinct appelations for our Padamanandi, includes both Kundakunda and Elācārya. The Nandi Saṁgha gurvāvalī (A.D. 14th Cent.) likewise mentions the elācārya status-cognomen of Kundakundācārya. True, these latter two sources are rather late, but they possibly were so recording on the basis of the then current written or oral tradition." (Aspects of Jainology, Vol. III , p.192).

१९१. आचार्यकुंडकुंदाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा॥ ४॥
केचित्तदन्वये चारुमुनयः खनयो गिराम्।
जलधाविव रत्नानि बभूवुर्दिव्यतेजसः॥ ५॥ जै. शि. सं. / मा. च. / भा.३ / ले. क्र. ५८५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

नहीं है। वह इसलिए कि अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने नामवाले अन्वय का अस्तित्व असम्भव है। दूसरा कारण यह है कि श्रवणबेल्गोल के शक सं० १०८५ (११६३ ई०) के शिलालेख में कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य चन्द्रगुप्त के अन्वय में उत्पन्न बतलाया गया है।[१९२]

इस प्रकार प्रो० ढाकी ने आचार्य कुन्दकुन्द को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए जो आठवीं शताब्दी ई० के एलवाचार्यगुरु को कुन्दकुन्द सिद्ध करने का प्रयास किया है, वह उनके छलवाद का अन्य उदाहरण है। कम्भराज के पूर्वोद्धृत दानपत्र में एलवाचार्यगुरु को स्पष्टतः कुन्दकुन्दान्वय में उद्भूत बतलाया गया है। यह देखते हुए भी कुन्दकुन्दान्वय के आदि पुरुष को कुन्दकुन्द न मानकर 'एलवाचार्यगुरु' को कुन्दकुन्द ठहराने की और इस प्रकार कुन्दकुन्दान्वय को आचार्य कुन्दकुन्द से अनुद्भूत सिद्ध करने की चेष्टा करके प्रो० ढाकी ने लोगों की आँखों में धूल झौंकने का प्रयास किया है।

६. कुन्दकुन्द के किसी वर्धमानगुरु नामक शिष्य का भी उल्लेख अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे भी एलवाचार्यगुरु का कुन्दकुन्द होना बाधित होता है।

७. कुन्दकुन्द ने भावपाहुड और लिंगपाहुड में ग्राम, भूमि आदि का दान लेकर कृषि-वाणिज्य आदि करनेवाले मुनियों को पासत्थ-कुसील मुनियों की संज्ञा दी है और उन्हें नरकगामी बतलाया है। अतः उनके ही शिष्य ने उनकी ही उपस्थिति में या उनके विद्यमान रहते हुए बदणोगुप्पे ग्राम का दान स्वीकार किया होगा, यह संभव नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि न तो 'एलवाचार्यगुरु' कुन्दकुन्द का नामान्तर था, न ही वर्धमानगुरु उनके शिष्य थे, और न कुमारनन्दि-भट्टारक उनके गुरु।

८. उक्त दानपत्र में कुमारनन्दि-भट्टारक और उनके शिष्य-प्रशिष्य को कुन्दकुन्दान्वयोद्भूत बतलाया गया है, इससे सिद्ध है कि इस अन्वय के आदिपुरुष कुन्दकुन्द उनसे बहुत पहले हुए थे।

९. उक्त दानपत्र नौवीं शताब्दी (८०८ ई०) के आरंभ का है, किन्तु पाँचवी शताब्दी ई० के पूज्यपाद स्वामी ने, आठवीं शती ई० के पूर्वार्ध में हुए अपराजित सूरि ने तथा इसी शती के उत्तरार्ध में विद्यमान वीरसेन स्वामी ने स्वकृत टीकाओं में कुन्दकुन्द की गाथाओं को **उक्तं च** कहकर उद्धृत किया है तथा वे गाथाएँ अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलतीं। इसके अतिरिक्त वीरसेन स्वामी ने **पंचत्थिपाहुड** नाम का उल्लेख करके भी पंचास्तिकाय की गाथाएँ धवला में उद्धृत की हैं। प्रथम शताब्दी ई० की भगवती-आराधना और मूलाचार में, द्वितीय शती ई० की तिलोयपण्णत्ती में तथा छठी

---

१९२. लेख का मूलपाठ अध्याय २ / प्रकरण २ / शीर्षक ९ में द्रष्टव्य है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

शती ई० के परमात्मप्रकाश में भी कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ आत्मसात् की गई हैं। प्रथम-द्वितीय शती ई० के तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'तत्त्वार्थ' के अनेक सूत्रों की रचना कुन्दकुन्द-साहित्य के आधार पर की है। इससे भी कुन्दकुन्द का आठवीं सदी ई० में उत्पन्न होना बाधित होता है।

ये अनेक प्रमाण सिद्ध करते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द कम्भराज, कुमारनन्दि-भट्टारक, एलवाचार्यगुरु और वर्धमानगुरु के समय (८०८ ई०) से सैकड़ों वर्ष पहले उत्पन्न हुए थे।

५

लिङ्गप्राभृतोक्त शिथिलाचार छठी शती ई. से परवर्ती

अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर कुन्दकुन्द को ईसा की आठवीं शताब्दी का सिद्ध करने के लिए पहला हेतु बतलाते हुए प्रो० ढाकी कहते हैं कि कुन्दकुन्द ने लिंगपाहुड में मुनियों के शिथिलाचार पर तीव्र प्रहार किया है। उन शिथिलाचारों में कृषि-वाणिज्य आदि करने का उल्लेख है। ये शिथिलाचार छठी शताब्दी ई० के बाद की घटनाएँ हैं। अतः कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उनका उल्लेख होने से वे छठी शताब्दी ई० के बाद के विद्वान् प्रतीत होते हैं। (Asp. of Jaino., Vol.III, p.195)।

निरसन

उक्त शिथिलाचार अनादि से

भावपाहुड, भगवती-आराधना और मूलाचार जैसे प्राचीन ग्रन्थों में पासत्थ, कुसील आदि पाँच प्रकार के शिथिलाचारी जैन साधुओं का वर्णन किया गया है। इनमें एक ही स्थान में नियतवास करने वाले साधु को पासत्थ (पार्श्वस्थ) संज्ञा दी गई है। जो साधु एक ही स्थान में नियतवास करेगा, उसका जीविकोपार्जन हेतु कृषि-वाणिज्य, मंत्र-तंत्र, औषधप्रयोग आदि लौकिक कर्मों में प्रवृत्त हो जाना स्वाभाविक है। इन क्रियाओं को करनेवाला मुनि कुसील (कुशील) कहा गया है, अर्थात् पासत्थ मुनि कुसील भी हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि इन पासत्थादि पाँच प्रकार के भ्रष्ट मुनियों का अस्तित्व अनादि से है।[१९३] इतिहास भी साक्षी है कि अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् (४६५ ई० पू०) भगवान् महावीर के अनुयायी निर्ग्रन्थसंघ के मुनियों का एक वर्ग शीतादि परीषहों से बचने के लिए अर्थात् शारीरिक

१९३. देखिये, अष्टम अध्याय के चतुर्थ प्रकरण का शीर्षक क्र.३ 'पासत्थादि मुनियों के वस्त्रधारण से १२वीं शती ई. में भट्टारक-परम्परा का उदय'।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सुख के लिए आचेलक्यादि मूलगुणों का परित्याग कर मूलाचार से च्युत हो गया, वस्त्र पहनने लगा, कम्बल ओढ़ने-बिछाने लगा, पात्र में भिक्षा लाकर उपाश्रय में बैठकर भोजन करने लगा, अश्रावकों के भी घर से भिक्षा लेने लगा, यहाँ तक कि मांस से भी उदरपूर्ति करने लगा। जब ईसापूर्व ४६५ में शिथिलाचार मांसभक्षण तक पहुँच सकता है, तब आचार्य कुन्दकुन्द के काल में अर्थात् ईसापूर्व और ईसोत्तर प्रथम शताब्दी में कुछ मुनियों का नियतवास और कृषि-वाणिज्यादि कर्मों में प्रवृत्त हो जाना आश्चर्य की बात नहीं है। अन्य तीर्थंकरों के काल में भी ऐसी प्रवृत्तियोंवाले साधु रहे होंगे। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि पासत्थ-कुसीलादि साधुओं का अस्तित्व अनादिकाल से है। पूर्ववर्णित साहित्यिक और शिलालेखीय प्रमाणों से सिद्ध है कि आचार्य कुन्दकुन्द का अस्तित्व ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में था। उस समय के आचार्य ने जब ऐसे मुनियों की निन्दा की है, तब यह तो प्रमाणित ही है कि उस प्राचीनकाल में भी उक्त प्रकार के मुनियों का अस्तित्व था। अतः केवल छठीं शताब्दी ई० में या उसके बाद ऐसे मुनियों का उद्भव मानना प्रमाणों की अवहेलना कर स्वाभीष्ट मत का आरोपण करना है। इस ऐतिहासिक तथ्य को देखते हुए लिंगप्राभृत में कृषि-वाणिज्यादि करनेवाले शिथिलाचारी मुनियों के वर्णन से यह सिद्ध नहीं होता कि आचार्य कुन्दकुन्द छठी शताब्दी ई० के बाद उत्पन्न हुए थे।

६

छठी शती ई.-रचित षट्खण्डागम पर कुन्दकुन्द की टीका

पूर्वोक्त विद्वान् का कथन है कि इन्द्रनन्दी के अनुसार कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम पर **परिकर्म** नामक टीका लिखी थी। षट्खण्डागम का रचनाकाल पाँचवी-छठी शताब्दी ई० है। अतः कुन्दकुन्द उसके बाद हुए हैं। (Asp. of Jaino., Vol.III, p.196)।

निरसन

षट्खण्डागम ईसापूर्व प्र. श. के पूर्वार्ध की रचना

पूर्व प्रस्तुत साहित्यिक एवं शिलालेखीय प्रमाणों से सिद्ध है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में उत्पन्न हुए थे और उन्होंने षट्खण्डागम पर टीका लिखी थी। अतः षट्खण्डागम की रचना कुन्दकुन्द से पूर्व अर्थात् ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई थी, यह स्वतः सिद्ध होता है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

७

कुन्दकुन्द द्वारा छठी शती ई. के मूलाचार का अनुकरण

उक्त विद्वान् आगे लिखते हैं कि वट्टकेरकृत 'मूलाचार' यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ है और उसकी रचना छठी शती ई० के उत्तरार्ध में हुई थी, क्योंकि उसमें छठी शती के आरम्भ में रचित श्वेताम्बर-निर्युक्तियों की गाथाएँ मिलती हैं। उसमें जो कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ उपलब्ध होती हैं, वे उस समय प्रक्षिप्त की गयी हैं, जब वह यापनीयों के माध्यम से दिगम्बरों के पास आया। मूलाचार की एक गाथा में प्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा गया है। कुन्दकुन्द ने इसका अनुकरण कर समयसार की वह गाथा रची है, जिसमें उनको विषकुंभ संज्ञा दी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द मूलाचार के रचनाकाल छठी शताब्दी ई० के बाद उत्पन्न हुए थे। (Asp. of Jaino.,Vol. III, p.196)।

निरसन

'मूलाचार' में कुन्दकुन्द की गाथाएँ

कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे और मूलाचार की रचना उनके पश्चात् प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध में हुई थी। तथा मूलाचार यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु शत-प्रतिशत दिगम्बरग्रन्थ है। (देखिये, 'मूलाचार' नामक अध्याय)। उसमें श्वेताम्बर-निर्युक्तियों की गाथाएँ नहीं हैं, बल्कि उसकी गाथाएँ श्वेताम्बर-निर्युक्तियों में हैं। यतः वह दिगम्बरग्रन्थ ही है, अतः वह यापनीयों के माध्यम से दिगम्बरों के पास आया है, इस कल्पना के लिए स्थान नहीं है। इसलिए उसमें कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ प्रक्षिप्त किए जाने की कल्पना भी निराधार है। मूलाचार के कर्त्ता ने स्वयं उन्हें कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से ग्रहण किया है, इसका सोदाहरण प्रतिपादान प्रथम प्रकरण में किया जा चुका है।

८

कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में छठी शती ई. के श्वेताम्बर ग्रन्थों की गाथाएँ

मान्य विद्वान् का अगला तर्क यह है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में चौथी शती ई० से लेकर छठी शती ई० के मध्य रचे गये श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों की गाथाएँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ, ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी के **महाप्रत्याख्यान** नामक प्रकरणग्रन्थ की जैनमहाराष्ट्री में निबद्ध एक गाथा और विमलसूरि (४७८ ई०) के **पउमचरिय** की वैसी

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ही एक गाथा प्रवचनसार में उपलब्ध होती है। श्वेताम्बर-आगम और आगमिक साहित्य तो कुन्दकुन्द से सर्वथा अपरिचित है, इसलिए यह स्पष्ट है कि उक्त गाथाएँ तथा अन्य अनेक गाथाएँ कुन्दकुन्द ने यापनीयों के माध्यम से अथवा स्वयं ही श्वेताम्बरग्रन्थों से ग्रहण की हैं। (Asp. of Jaino., Vol. III, p.197)।

निरसन

कुन्दकुन्द का स्थितिकाल ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी

प्रथम प्रकरण में सोदाहरण निरूपण किया गया है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ प्रथम शताब्दी ई० में रचित भगवती-आराधना और मूलाचार नामक दिगम्बरग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० के उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थ' के अनेक सूत्रों की रचना कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर की है। द्वितीय शती ई० की तिलोयपण्णत्ती एवं छठी शती ई० के परमात्मप्रकाश में कुन्दकुन्द की गाथाएँ आत्मसात् की गयी हैं। ईसोत्तर पाँचवीं शती के पूज्यपादस्वामी ने, ईसोत्तर आठवीं शती के पूर्वार्ध में हुए अपराजित सूरि ने तथा उत्तरार्ध में वर्तमान वीरसेन स्वामी ने अपने टीकाग्रन्थों में कुन्दकुन्द की गाथाएँ **उक्तं च** कहकर उद्धृत की हैं। ४६६ ई० के मर्करा-ताम्रपत्रलेख में कुन्दकुन्दान्वय के छह गुरु-शिष्यों के नाम वर्णित हैं। 'दि इण्डियन एण्टिक्वेरी' में प्रकाशित नन्दिसंघीय पट्टावली में कुन्दकुन्द का पट्टारोहणकाल ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में बतलाया गया है। इन तथ्यों को पूर्व में युक्तिप्रमाणपूर्वक निर्विवाद सिद्ध किया गया है। अतः आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तरप्रथम शताब्दी में हुए थे, इसमें सन्देह के लिए अवकाश नहीं है। फलस्वरूप तीसरी-चौथी शताब्दी ई० के श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों की गाथाओं का कुन्दकुन्द द्वारा ग्रहण किया जाना संभव नहीं है। वे गाथाएँ या तो दोनों सम्प्रदायों की समान मूल परम्परा से आयी हैं अथवा श्वेताम्बर ग्रन्थों में कुन्दकुन्दसाहित्य से पहुँची हैं। भाषाविज्ञान की गुत्थियों में उलझाकर उपर्युक्त प्रमाणों को मेटा नहीं जा सकता। उक्त प्रमाणों के प्रकाश में ही भाषावैज्ञानिक नियमों की खोज करनी होगी।

९

कुन्दकुन्द द्वारा निश्चयनय का गहन-विस्तृत प्रयोग

प्रो० ढाकी ने बहिरंग हेतुओं के पश्चात् अन्तरंग हेतुओं को लेकर कुन्दकुन्द को आठवीं शताब्दी ई० का सिद्ध करने की चेष्टा की है। **पहले अन्तरंग हेतु का प्रदर्शन** करते हुए वे लिखते हैं कि यद्यपि कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती आचार्य भी निश्चयनय

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

से परिचित थे, तथापि सिद्धसेन दिवाकर (छठी शती ई०) और मल्लवादी (छठी-सातवीं शती ई०) ने उसका प्रयोग गहराई और विस्तार से नहीं किया। (Asp. of Jaino., Vol. III, p.198)। अर्थात् कुन्दकुन्द ने उसका प्रयोग गहराई और विस्तार से किया है, अतः वे सिद्धसेन और मल्लवादी से परवर्ती हैं।

निरसन

श्वेताम्बरमत में निश्चयनय के गहन-विस्तृत प्रयोग का अनवसर

पहली बात तो यह है कि सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी, कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती नहीं थे। दूसरे, यदि उन्होंने निश्चयनय का प्रयोग गहराई और विस्तार से अर्थात् आत्मा के निरुपाधिक और औपाधिक रूपों तथा मोक्षमार्ग के साध्य-साधक पक्षों के निरूपण में नहीं किया, तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा में द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का अध्यात्मपक्ष सुरक्षित नहीं रह पाया। इसलिए उनका उपलब्ध आगमसाहित्य उससे शून्य है। डॉ० सागरमल जी ने भी लिखा है—

"अंग-आगमों के विच्छेद की चर्चा श्वेताम्बरपरम्परा में भी चली है।--- मेरी दृष्टि में विच्छेद का तात्पर्य उसके कुछ अंशों का विच्छेद ही मानना होगा। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें, तो ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर-परम्परा में भी जो अंगसाहित्य आज अवशिष्ट है, वह उसी रूप में तो नहीं है, जिस रूप में उसकी विषयवस्तु का उल्लेख स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र आदि में हुआ है। यह सत्य है कि न केवल पूर्व-साहित्य का, अपितु अंगसाहित्य का भी बहुत कुछ अंश विच्छिन्न हुआ है। आज आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का सातवाँ महापरिज्ञा नामक अध्याय अनुपलब्ध है। भगवतीसूत्र, ज्ञातृधर्मकथा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाकदशा आदि ग्रन्थों की भी बहुत कुछ सामग्री विच्छिन्न हुई है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। स्थानांग में दस दशाओं की जो विषयवस्तु वर्णित है, वह उनकी वर्तमान विषयवस्तु से मेल नहीं खाती है। उनमें जहाँ कुछ प्राचीन अध्ययन विलुप्त हुए हैं, वहीं कुछ नवीन सामग्री समाविष्ट भी हुई है। अन्तिम वाचनाकार देवर्द्धिगणी ने स्वयं भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मुझे जो भी त्रुटित सामग्री मिली है, उसको ही मैंने संकलित किया है। अतः आगमग्रन्थों के विच्छेद की जो चर्चा है, उसका अर्थ यही लेना चाहिए कि यह श्रुतसम्पदा यथावत् रूप में सुरक्षित नहीं रह सकी। वह आंशिकरूप से विस्मृति के गर्भ में चली गयी। क्योंकि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष तक यह साहित्य मौखिक रहा और मौखिक परम्परा में विस्मृति

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

स्वाभाविक है। विच्छेद का क्रम तभी रुका, जब आगमों को लिखित रूप दे दिया गया।'' (डॉ.सा.म.जै.अभि.ग्र./पृ.३९)।

डॉक्टर सा० आगे लिखते हैं—''अर्धमागधी आगम-साहित्य की विषयवस्तु मुख्यतः उपदेशपरक, आचारपरक एवं कथापरक है। भगवती के कुछ अंश, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार जो कि अपेक्षाकृत परवर्ती हैं, को छोड़कर उनमें प्रायः गहन दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाओं का अभाव है। --- इसके विपरीत शौरसेनी आगमों में आराधना और मूलाचार को छोड़कर लगभग सभी ग्रन्थ दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चा से युक्त हैं। वे परिपक्व दार्शनिक विचारों के परिचायक हैं। **गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त की वे गहराइयाँ, जो शौरसेनी आगमों में उपलब्ध हैं, अर्धमागधी आगमों में प्रायः उनका अभाव ही है।** कुन्दकुन्द के समयसार के समान उनमें सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्यात्मवाद के प्रतिस्थापन का भी कोई प्रयास परिलक्षित नहीं होता।'' (डॉ.सा.म.जै.अभि.ग्र./पृ.३९)।

इस वक्तव्य से मेरे इस मत की पुष्टि होती है कि श्वेताम्बरपरम्परा में द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का अध्यात्मपक्ष सुरक्षित नहीं रह पाया। उसमें गुणस्थान-सिद्धान्त तक का अभाव है, इसलिए निश्चय और व्यवहार नयों के गहन एवं विस्तृत प्रयोग के लिए श्वेताम्बरसाहित्य में विषय ही उपलब्ध नहीं है। तब सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी क्या कर सकते थे? किन्तु दिगम्बर-परम्परा में द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का अध्यात्मपक्ष सुरक्षित रहा और श्रुतकेवली भद्रबाहु के मुखारविन्द से निःसृत हो गुरुपरम्परा से कुन्दकुन्द को प्राप्त हुआ, जिसे उन्होंने यथावत् अपने ग्रन्थों में निबद्ध कर दिया। इसलिए कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में आत्मा के निरुपाधिक और सोपाधिक रूपों एवं मोक्षमार्ग के साध्य-साधक पक्षों का निश्चय और व्यवहार नयों से गहन एवं विस्तृत विवेचन हुआ है। यह कुन्दकुन्द के परवर्ती होने और सिद्धसेन तथा मल्लवादी के पूर्ववर्ती होने का प्रमाण नहीं है, अपितु श्वेताम्बर-परम्परा में निश्चय-व्यवहार नयों के प्रयोगयोग्य आध्यात्मिक विषयवस्तु के अभाव एवं दिगम्बर-परम्परा में उसके सद्भाव का प्रमाण है।

तथा सिद्धसेन और मल्लवादी से बहुत प्राचीन अन्य ग्रन्थों में भी आत्मादि तत्त्वों के व्यवहार और परमार्थ रूपों का व्यवहार और निश्चय नयों से निरूपण उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ प्रथम शती ई० की **भगवती-आराधना** में कहा गया है कि शुद्धनय से देखनेवाले ज्ञानी मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहते हैं—

सुद्धणया पुण णाणं मिच्छादिट्ठिस्स वेंति अण्णाणं।
तम्हा मिच्छादिट्ठी णाणस्साराहओ णेव॥ ५॥

शुद्धनय, भूतार्थ (नय) और परमार्थ (नय), ये निश्चयनय के पर्यायवाची हैं।[१९४] अतः प्रथम शताब्दी ई० की भगवती-आराधना में भी निश्चयनय से मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहकर ज्ञान के सम्यक् स्वरूप का विवेचन किया गया है।

प्रथम शती ई० के ही मूलाचार में समयसार की यह गाथा उपलब्ध होती है—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ २०३॥ मूला.।

इसमें भी जीव की परसापेक्ष पर्यायों में से एक शुद्ध जीवद्रव्य का निश्चय कराने के लिए निश्चयनय (भूतार्थनय) का प्रयोग किया गया है।

मूलाचार की ही निम्नलिखित गाथा में निश्चयनय के पर्यायभूत 'परमार्थ' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि जो साधु आर्यिकाओं की वसतिका में रहता है, उसकी दो प्रकार से निन्दा होती है : व्यवहाररूप से और परमार्थरूप से—

होदि दुगुंछा दुविहा **ववहारदो** तधा य **परमट्ठे**।
पयदेण य **परमट्ठे ववहारेण** य तहा पच्छा॥ ९५५॥

आर्यिकाओं की वसति में रहने से साधु का जो व्रतभंग होता है, वह मुख्यरूप से निन्दा है और जो लोकापवाद होता है, वह व्यवहाररूप से निन्दा कहलाती है।[१९५] इस प्रकार यहाँ निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा निन्दा के मुख्य और गौणरूपों का विवेचन किया गया है।

द्वितीय शताब्दी ई० में रचित तिलोयपण्णत्ती में ज्ञानावरणादि घातिकर्मों के क्षय-हेतुओं की साध्यसाधकरूप द्विविधता तथा नवलब्धियों की बाह्याभ्यन्तररूप द्विविधता का संकेत निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा किया गया है। यथा—

णाणावरणप्पहुदी **णिच्छय-ववहारपाय** अतिसयए।
संजादेण अणंतं णाणेणं दंसणेण सोक्खेणं॥ १/७१॥

विरिएण तहा खाइय-सम्मत्तेणं पि दाण-लाहेहिं।
भोगोपभोग-**णिच्छय-ववहारेहिं** च परिपुण्णो॥ १/७२॥

---

१९४. क— "भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन।" तात्पर्यवृत्ति / समयसार / गा.१३।
ख— मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ॥ १५६॥ समयसार।

१९५. "तत्रार्यिकोपाश्रये वसतः साधोर्द्विप्रकारापि जुगुप्सा, व्यवहाररूपा तथा परमार्था च। लोकापवादो व्यवहाररूपा, व्रतभङ्गश्च परमार्थतः।" आचारवृत्ति / मूलाचार / गा.९५५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पूज्यपाद देवनन्दी का समय पाँचवी शताब्दी ई० है, यह पूर्व में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। उन्होंने 'समाधितन्त्र' और 'इष्टोपदेश' में 'व्यवहार' शब्द का उल्लेख कर और उसके द्वारा प्रतिपक्षी 'निश्चय' का आक्षेप कर मोक्षमार्ग के आभ्यन्तर और बाह्य रूपों में साध्यसाधकभाव का प्ररूपण किया है। जैसे—

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति **व्यवहारे**ऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥ ७८॥ स.तन्त्र।

अनुवाद—"जो व्यवहार में सोता है (व्रताव्रत दोनों से विमुख होता है) वह आत्मस्वभाव में जागता है (शुद्धोपयोग में लीन होता है) और जो व्यवहार में जागता है, वह आत्मस्वभाव (शुद्धोपयोग) में सोता है (उससे विमुख होता है)।"

यहाँ पूज्यपादस्वामी ने व्रतों में प्रवृत्ति को 'व्यवहार' कहा है, और इससे यह द्योतित किया है कि आत्मस्वभाव में स्थित होना 'निश्चय' है। अर्थात् वे शुद्धोपयोग को निश्चयनय से मोक्षमार्ग मानते हैं।

'इष्टोपदेश' में भी पूज्यपादस्वामी ने व्रतरूप शुभप्रवृत्ति को 'व्यवहार' शब्द से अभिहित किया है—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य **व्यवहारबहिःस्थितेः**।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः॥ ४७॥ इष्टोपदेश।

अनुवाद—"जो योगी व्यवहार (व्रतादि शुभ प्रवृत्तियों) से बाहर होकर स्वयं को आत्मा में ही स्थापित करता है (शुद्धोपयोग में स्थित होता है), उसे इस योग (शुद्धोपयोग या ध्यान) से परमानन्द की अनुभूति होती है।

इस प्रकार पाँचवी शती ई० के पूज्यपाद देवनन्दी ने भी 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग कर 'निश्चय' शब्द का आक्षेप किया है और उन दोनों के द्वारा मोक्ष के आभ्यन्तर और बाह्य उपायों में साध्यसाधकभाव संकेतित किया है।

छठी शती ई० के 'परमात्मप्रकाश' में भी निश्चय और व्यवहार नयों से आत्मादि पदार्थों के परमार्थ और अपरमार्थ रूपों का प्रतिपादन किया गया है। इसके उदाहरण प्रथम प्रकरण (शीर्षक क्र.७) में दिये गये हैं। 'वरांगचरित' (७वीं शती ई० पूर्वार्ध) तथा धवला एवं जयधवला (८वीं शती ई० उत्तरार्ध) में कुन्दकुन्द की गाथाओं का जो संस्कृतीकरण किया गया है या उद्धरण दिये गये हैं, उनमें भी भूतार्थनय या निश्चयनय से जीवादि तत्त्वों के परमार्थरूप का प्ररूपण मिलता है। इनके भी उदाहरण प्रथम प्रकरण (शीर्षक क्र. ८ एवं १०) में उपलब्ध हैं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इस प्रकार जब ईसवी प्रथम शती से लेकर आठवीं शती तक के ग्रन्थों में निश्चय और व्यवहार नयों का प्रयोग जीवादि सात तत्त्वों, नौ पदार्थों, छह द्रव्यों और पाँच अस्तिकायों के पारमार्थिक और अपारमार्थिक पक्षों के गहन और विस्तृत निरूपण में किया गया है, तब सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन (छठी शताब्दी ई०) और 'सन्मतिसूत्र' पर टीका लिखनेवाले मल्लवादी (छठी-सातवीं शताब्दी ई०) ने यह कार्य नहीं किया, तो क्या फर्क पड़ता है? इससे यह सिद्ध नहीं होता कि "उक्त नयों का वस्तुस्वरूप के निरूपण में व्यापक प्रयोग सिद्धसेन और मल्लिवादी के पश्चात् हुआ है, और वह सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलता है, अतः कुन्दकुन्द सिद्धसेन और मल्लवादी से अर्वाचीन हैं।" भगवती-आराधना आदि के उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध है कि निश्चय और व्यवहार नयों का वस्तुस्वरूप के निरूपण में गहन और व्यापक प्रयोग सिद्धसेन से अतिपूर्ववर्ती प्रथम शती ई० के भगवती-आराधना, मूलाचार, आदि के कर्त्ताओं ने किया है और उन्होंने उसका अनुकरण आचार्य कुन्दकुन्द से किया है अतः कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे, यह युक्तिपूर्वक सिद्ध होता है।

१०
आत्मनिरूपण में ८वीं शती ई. के गौडपाद का अनुसरण

प्रो० ढाकी का दूसरा अन्तरंग हेतु इस प्रकार है—कुन्दकुन्द ने निश्चयनय के आधार पर सांख्य और वेदान्त की तरह आत्मा को पुद्गल के सम्पर्क से भिन्न और स्वतन्त्र प्ररूपित किया है और इस कारण उसे पुद्गल कर्मों का निश्चयनय से अकर्त्ता और (उनके फल का) अभोक्ता तथा व्यवहारनय से कर्त्ता और भोक्ता बतलाया है। किन्तु मध्ययुग के पूर्व तक और तब भी कुन्दकुन्द के उक्त सिद्धान्त के प्रसिद्ध होने के पहले तक किसी जैन विद्वान् ने आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व की वैसी व्याख्या नहीं की, न ही किसी की वैसी मान्यता थी।[१९६] इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने संसारी आत्मा को सदा शुद्ध और कर्मरज से असम्पृक्त प्रतिपादित किया है, जब कि उनके पहले तक दिगम्बरसम्प्रदाय में भी उसे इसके विपरीत माना जाता था।[१९७] आत्मा के विषय में नवीन वेदान्तिक मत शंकराचार्य (७८०-८१२ ई०) से कम से कम ५०

---

१९६. "Now, the ancient Jaina doctrine of ātman as the kartā and bhoktā has never been interpreted or understood that way by any Jaina scholiast till the premedieval times, and that too not before the Kundakundācārya's doctrine was widely known." Aspects of Jainology, Vol. III , p.198.

१९७. "The unliberated Self, in Kundakundācārya's concept, thus is always pure and not contaminated by karma-raja as was otherwise believed till late, even in the Digambara sect." Aspects of Jainology,Vol. III, p. 198.

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इस प्रकार जब ईसवी प्रथम शती से लेकर आठवीं शती तक के ग्रन्थों में निश्चय और व्यवहार नयों का प्रयोग जीवादि सात तत्त्वों, नौ पदार्थों, छह द्रव्यों और पाँच अस्तिकायों के पारमार्थिक और अपारमार्थिक पक्षों के गहन और विस्तृत निरूपण में किया गया है, तब सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन (छठी शताब्दी ई०) और 'सन्मतिसूत्र' पर टीका लिखनेवाले मल्लवादी (छठी-सातवीं शताब्दी ई०) ने यह कार्य नहीं किया, तो क्या फर्क पड़ता है? इससे यह सिद्ध नहीं होता कि "उक्त नयों का वस्तुस्वरूप के निरूपण में व्यापक प्रयोग सिद्धसेन और मल्लिवादी के पश्चात् हुआ है, और वह सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलता है, अतः कुन्दकुन्द सिद्धसेन और मल्लवादी से अर्वाचीन हैं।" भगवती-आराधना आदि के उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध है कि निश्चय और व्यवहार नयों का वस्तुस्वरूप के निरूपण में गहन और व्यापक प्रयोग सिद्धसेन से अतिपूर्ववर्ती प्रथम शती ई० के भगवती-आराधना, मूलाचार, आदि के कर्त्ताओं ने किया है और उन्होंने उसका अनुकरण आचार्य कुन्दकुन्द से किया है अतः कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे, यह युक्तिपूर्वक सिद्ध होता है।

१०

आत्मनिरूपण में ८वीं शती ई. के गौडपाद का अनुसरण

प्रो० ढाकी का दूसरा अन्तरंग हेतु इस प्रकार है—कुन्दकुन्द ने निश्चयनय के आधार पर सांख्य और वेदान्त की तरह आत्मा को पुद्गल के सम्पर्क से भिन्न और स्वतन्त्र प्ररूपित किया है और इस कारण उसे पुद्गल कर्मों का निश्चयनय से अकर्त्ता और (उनके फल का) अभोक्ता तथा व्यवहारनय से कर्त्ता और भोक्ता बतलाया है। किन्तु मध्ययुग के पूर्व तक और तब भी कुन्दकुन्द के उक्त सिद्धान्त के प्रसिद्ध होने के पहले तक किसी जैन विद्वान् ने आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व की वैसी व्याख्या नहीं की, न ही किसी की वैसी मान्यता थी।[१९६] इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने संसारी आत्मा को सदा शुद्ध और कर्मरज से असम्पृक्त प्रतिपादित किया है, जब कि उनके पहले तक दिगम्बरसम्प्रदाय में भी उसे इसके विपरीत माना जाता था।[१९७]आत्मा के विषय में नवीन वेदान्तिक मत शंकराचार्य (७८०-८१२ ई०) से कम से कम ५०

---

१९६. "Now, the ancient Jaina doctrine of ātman as the kartā and bhoktā has never been interpreted or understood that way by any Jaina scholiast till the premedieval times, and that too not before the Kundakundācārya's doctrine was widely known." Aspects of Jainology, Vol. III , p.198.

१९७. "The unliberated Self, in Kundakundācārya's concept, thus is always pure and not contaminated by karma-raja as was otherwise believed till late, even in the Digambara sect." Aspects of Jainology,Vol. III, p. 198.

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

वर्ष पहले उनके गुरु गौडपाद द्वारा रचित कारिकाओं के माध्यम से प्रसिद्ध हो चुका था। संभव है, वे कुन्दकुन्द की दृष्टि में आयी हों और उन्होंने आत्मा के विषय में वेदान्तिक दृष्टि कुछ संशोधित करके अपना ली हो।[१९८]

निरसन

कुन्दकुन्द द्वारा श्रुतकेवली के उपदेश का अनुसरण

कुन्दकुन्द ने आत्मद्रव्य को, चाहे वह संसारावस्था में हो या सिद्धावस्था में, लक्षण की दृष्टि से मोहरागादि भावों, पुद्गलकर्मों और देह से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप बतलाया है और यह श्रुतकेवली का उपदेश है, कुन्दकुन्द के अपने विचार नहीं। आत्मद्रव्य का लक्षण यही है। मोहरागादि भावों, पुद्गलकर्मों तथा देह से युक्त 'अशुद्ध चैतन्य' आत्मा का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि चैतन्य की ऐसी अवस्था तीनों कालों में नहीं पायी जाती। मुक्त आत्मा में इसका अभाव होता है। तथा यदि मोहरागादि आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव हों, तो आत्मा की मुक्ति संभव नहीं है, क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने त्रैकालिक स्वभाव से मुक्त नहीं हो सकता। अतः आत्मद्रव्य का वही लक्षण है, जो कुन्दकुन्द ने बतलाया है। और वह जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट है, कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित नया सिद्धान्त नहीं। तथा ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुड से लेकर वर्तमान काल तक के किसी भी ग्रन्थ में कर्मरज-सम्पृक्त चैतन्य को आत्मा का लक्षण नहीं बतलाया गया। प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध में रचित 'मूलाचार' में कुन्दकुन्द के ही शब्दों (भावपाहुड / गा.५९) को ज्यों का त्यों अपनाकर आत्मद्रव्य को मात्र ज्ञानदर्शन-लक्षणवाला बतलाया गया है और मोहरागादिभावों, पुद्गलकर्मों तथा पौद्गलिक शरीर को आत्मा से भिन्न सांयोगिक भाव कहा गया है। यथा—

एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥ ४८॥ मूला.।

तत्त्वार्थसूत्र (प्रथम-द्वितीय शती ई०) में जीव के चैतन्यपरिणामरूप उपयोग को जीव का लक्षण[१९९] तथा स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण को पुद्गल का धर्म कहा गया

१९८. "The new Veādānta doctrine about ātman was already known at least 50 years before Śaṅkarācārya (A.D. 780-812), through the kārikās of his grand preceptor Gauḍapāda. May be, Kundakundācārya has seen these and adopted the Vedāntic way of looking at self, but in a modified way." Aspects of Jainology, Vol. III, p.198.

१९९. "उपयोगो लक्षणम्" त.सू./२/८। "जीवत्वं चैतन्यमित्यर्थः" स.सि./२/७। "चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः" स.सि./२/८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

है।[२००] और इस तरह स्पष्ट किया गया है कि लक्षण की दृष्टि से अर्थात् निश्चयनय से आत्मा पौद्गलिक शरीर, पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों तथा तन्निमित्तक मोहरागादिभावों से रहित है।

द्वितीय शती ई० की 'तिलोयपण्णत्ती' में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ ली गयी हैं, जिनमें आत्मा को कर्मरज तथा देहादि से भिन्न निरूपित किया गया है। इसके अनेक उदाहरण प्रथम प्रकरण के (शीर्षक क्र.५) में देखे जा सकते हैं। पाँचवीं सदी ई० के पूज्यपाद देवनन्दी ने कुन्दकुन्द की **'एओ मे सस्सओ अप्पा'** (भावपाहुड/५९) इत्यादि गाथा का संस्कृत-रूपान्तरण कर **इष्टोपदेश** में आत्मा को एक, शुद्ध, ज्ञानी और निर्मम (परद्रव्यसम्बन्ध से रहित) प्रतिपादित किया है, और कहा है कि इसके अतिरिक्त जितने भी भाव आत्मा के साथ जुड़े दिखायी देते हैं, वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥ २७॥

इष्टोपदेश के एक अन्य श्लोक में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि जीव अलग है और पुद्गल अलग है—

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसङ्ग्रहः।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ ५०॥

छठी शताब्दी ई०[२०१] के जोइन्दुदेव ने **परमात्मप्रकाश** में स्वलक्षण की दृष्टि से आत्मा को देह से भिन्न बतलाया है—

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ॥ १/१४॥

अनुवाद—"जो परमसमाधि में स्थित होकर देह से भिन्न ज्ञानमय परमात्मा के दर्शन करता है, वही पण्डित (अन्तरात्मा) है।"

तथा 'समयसार' की गाथाओं (५०-५५) का अनुकरण करते हुए उन्होंने **परमात्मप्रकाश** में जीव के स्वभाव को वर्ण, गन्ध, रस, शब्द, क्रोध, मोह, मद, माया, मान आदि से रहित बतलाया है—

---

२००. "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।" त.सू./२/२३।

२०१. परमात्मप्रकाश / इण्ट्रोडक्शन / ए.एन. उपाध्ये / पृ.७५ तथा तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा / खं.२ / पृ.२४८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

वर्ष पहले उनके गुरु गौडपाद द्वारा रचित कारिकाओं के माध्यम से प्रसिद्ध हो चुका था। संभव है, वे कुन्दकुन्द की दृष्टि में आयी हों और उन्होंने आत्मा के विषय में वेदान्तिक दृष्टि कुछ संशोधित करके अपना ली हो।[१९८]

निरसन

कुन्दकुन्द द्वारा श्रुतकेवली के उपदेश का अनुसरण

कुन्दकुन्द ने आत्मद्रव्य को, चाहे वह संसारावस्था में हो या सिद्धावस्था में, लक्षण की दृष्टि से मोहरागादि भावों, पुद्गलकर्मों और देह से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप बतलाया है और यह श्रुतकेवली का उपदेश है, कुन्दकुन्द के अपने विचार नहीं। आत्मद्रव्य का लक्षण यही है। मोहरागादि भावों, पुद्गलकर्मों तथा देह से युक्त 'अशुद्ध चैतन्य' आत्मा का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि चैतन्य की ऐसी अवस्था तीनों कालों में नहीं पायी जाती। मुक्त आत्मा में इसका अभाव होता है। तथा यदि मोहरागादि आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव हों, तो आत्मा की मुक्ति संभव नहीं है, क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने त्रैकालिक स्वभाव से मुक्त नहीं हो सकता। अतः आत्मद्रव्य का वही लक्षण है, जो कुन्दकुन्द ने बतलाया है। और वह जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट है, कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित नया सिद्धान्त नहीं। तथा ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुड से लेकर वर्तमान काल तक के किसी भी ग्रन्थ में कर्मरज-सम्पृक्त चैतन्य को आत्मा का लक्षण नहीं बतलाया गया। प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध में रचित 'मूलाचार' में कुन्दकुन्द के ही शब्दों (भावपाहुड / गा.५९) को ज्यों का त्यों अपनाकर आत्मद्रव्य को मात्र ज्ञानदर्शन-लक्षणवाला बतलाया गया है और मोहरागादिभावों, पुद्गलकर्मों तथा पौद्गलिक शरीर को आत्मा से भिन्न सांयोगिक भाव कहा गया है। यथा—

एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥ ४८॥ मूला.।

तत्त्वार्थसूत्र (प्रथम-द्वितीय शती ई०) में जीव के चैतन्यपरिणामरूप उपयोग को जीव का लक्षण[१९९] तथा स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण को पुद्गल का धर्म कहा गया

१९८. "The new Veādānta doctrine about ātman was already known at least 50 years before Śaṅkarācārya (A.D. 780-812), through the kārikās of his grand preceptor Gauḍapāda. May be, Kundakundācārya has seen these and adopted the Vedāntic way of looking at self, but in a modified way." Aspects of Jainology, Vol. III, p.198.

१९९. "उपयोगो लक्षणम्" त.सू./२/८। "जीवत्वं चैतन्यमित्यर्थः" स.सि./२/७। "चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः" स.सि./२/८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

है।[२००] और इस तरह स्पष्ट किया गया है कि लक्षण की दृष्टि से अर्थात् निश्चयनय से आत्मा पौद्गलिक शरीर, पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों तथा तन्निमित्तक मोहरागादिभावों से रहित है।

द्वितीय शती ई० की 'तिलोयपण्णत्ती' में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ ली गयी हैं, जिनमें आत्मा को कर्मरज तथा देहादि से भिन्न निरूपित किया गया है। इसके अनेक उदाहरण प्रथम प्रकरण के (शीर्षक क्र.५) में देखे जा सकते हैं। पाँचवीं सदी ई० के पूज्यपाद देवनन्दी ने कुन्दकुन्द की **'एओ मे सस्सओ अप्पा'** (भावपाहुड/५९) इत्यादि गाथा का संस्कृत-रूपान्तरण कर **इष्टोपदेश** में आत्मा को एक, शुद्ध, ज्ञानी और निर्मम (परद्रव्यसम्बन्ध से रहित) प्रतिपादित किया है, और कहा है कि इसके अतिरिक्त जितने भी भाव आत्मा के साथ जुड़े दिखायी देते हैं, वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥ २७॥

इष्टोपदेश के एक अन्य श्लोक में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि जीव अलग है और पुद्गल अलग है—

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसङ्ग्रहः।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ ५०॥

छठी शताब्दी ई०[२०१] के जोइन्दुदेव ने **परमात्मप्रकाश** में स्वलक्षण की दृष्टि से आत्मा को देह से भिन्न बतलाया है—

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ॥ १/१४॥

अनुवाद—"जो परमसमाधि में स्थित होकर देह से भिन्न ज्ञानमय परमात्मा के दर्शन करता है, वही पण्डित (अन्तरात्मा) है।"

तथा 'समयसार' की गाथाओं (५०-५५) का अनुकरण करते हुए उन्होंने **परमात्मप्रकाश** में जीव के स्वभाव को वर्ण, गन्ध, रस, शब्द, क्रोध, मोह, मद, माया, मान आदि से रहित बतलाया है—

---

२००. "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।" त.सू./२/२३।

२०१. परमात्मप्रकाश / इण्ट्रोडक्शन / ए.एन. उपाध्ये / पृ.७५ तथा तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा / खं.२ / पृ.२४८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

है।[२००] और इस तरह स्पष्ट किया गया है कि लक्षण की दृष्टि से अर्थात् निश्चयनय से आत्मा पौद्गलिक शरीर, पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों तथा तन्निमित्तक मोहरागादिभावों से रहित है।

द्वितीय शती ई० की 'तिलोयपण्णत्ती' में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ ली गयी हैं, जिनमें आत्मा को कर्मरज तथा देहादि से भिन्न निरूपित किया गया है। इसके अनेक उदाहरण प्रथम प्रकरण के (शीर्षक क्र.५) में देखे जा सकते हैं। पाँचवीं सदी ई० के पूज्यपाद देवनन्दी ने कुन्दकुन्द की **'एओ मे सस्सओ अप्पा'** (भावपाहुड / ५९) इत्यादि गाथा का संस्कृत-रूपान्तरण कर **इष्टोपदेश** में आत्मा को एक, शुद्ध, ज्ञानी और निर्मम (परद्रव्यसम्बन्ध से रहित) प्रतिपादित किया है, और कहा है कि इसके अतिरिक्त जितने भी भाव आत्मा के साथ जुड़े दिखायी देते हैं, वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥ २७॥

इष्टोपदेश के एक अन्य श्लोक में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि जीव अलग है और पुद्गल अलग है—

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसङ्ग्रहः।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ ५०॥

छठी शताब्दी ई०[२०१] के जोइन्दुदेव ने **परमात्मप्रकाश** में स्वलक्षण की दृष्टि से आत्मा को देह से भिन्न बतलाया है—

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ॥ १/१४॥

अनुवाद—"जो परमसमाधि में स्थित होकर देह से भिन्न ज्ञानमय परमात्मा के दर्शन करता है, वही पण्डित (अन्तरात्मा) है।"

तथा 'समयसार' की गाथाओं (५०-५५) का अनुकरण करते हुए उन्होंने **परमात्मप्रकाश** में जीव के स्वभाव को वर्ण, गन्ध, रस, शब्द, क्रोध, मोह, मद, माया, मान आदि से रहित बतलाया है—

---

२००. "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।" त.सू. / २ / २३।

२०१. परमात्मप्रकाश / इण्ट्रोडक्शन / ए.एन. उपाध्ये / पृ.७५ तथा तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा / खं.२ / पृ.२४८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

वर्ष पहले उनके गुरु गौडपाद द्वारा रचित कारिकाओं के माध्यम से प्रसिद्ध हो चुका था। संभव है, वे कुन्दकुन्द की दृष्टि में आयी हों और उन्होंने आत्मा के विषय में वेदान्तिक दृष्टि कुछ संशोधित करके अपना ली हो।[१९८]

निरसन

कुन्दकुन्द द्वारा श्रुतकेवली के उपदेश का अनुसरण

कुन्दकुन्द ने आत्मद्रव्य को, चाहे वह संसारावस्था में हो या सिद्धावस्था में, लक्षण की दृष्टि से मोहरागादि भावों, पुद्गलकर्मों और देह से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप बतलाया है और यह श्रुतकेवली का उपदेश है, कुन्दकुन्द के अपने विचार नहीं। आत्मद्रव्य का लक्षण यही है। मोहरागादि भावों, पुद्गलकर्मों तथा देह से युक्त 'अशुद्ध चैतन्य' आत्मा का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि चैतन्य की ऐसी अवस्था तीनों कालों में नहीं पायी जाती। मुक्त आत्मा में इसका अभाव होता है। तथा यदि मोहरागादि आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव हों, तो आत्मा की मुक्ति संभव नहीं है, क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने त्रैकालिक स्वभाव से मुक्त नहीं हो सकता। अतः आत्मद्रव्य का वही लक्षण है, जो कुन्दकुन्द ने बतलाया है। और वह जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट है, कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित नया सिद्धान्त नहीं। तथा ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुड से लेकर वर्तमान काल तक के किसी भी ग्रन्थ में कर्मरज-सम्पृक्त चैतन्य को आत्मा का लक्षण नहीं बतलाया गया। प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध में रचित 'मूलाचार' में कुन्दकुन्द के ही शब्दों (भावपाहुड / गा.५९) को ज्यों का त्यों अपनाकर आत्मद्रव्य को मात्र ज्ञानदर्शन-लक्षणवाला बतलाया गया है और मोहरागादिभावों, पुद्गलकर्मों तथा पौद्गलिक शरीर को आत्मा से भिन्न सांयोगिक भाव कहा गया है। यथा—

एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥ ४८॥ मूला.।

तत्त्वार्थसूत्र (प्रथम-द्वितीय शती ई०) में जीव के चैतन्यपरिणामरूप उपयोग को जीव का लक्षण[१९९] तथा स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण को पुद्गल का धर्म कहा गया

१९८. "The new Veādānta doctrine about ātman was already known at least 50 years before Śaṅkarācārya (A.D. 780-812), through the kārikās of his grand preceptor Gauḍapāda. May be, Kundakundācārya has seen these and adopted the Vedāntic way of looking at self, but in a modified way." Aspects of Jainology, Vol. III, p.198.

१९९. "उपयोगो लक्षणम्" त.सू./२/८। "जीवत्वं चैतन्यमित्यर्थः" स.सि./२/७। "चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः" स.सि./२/८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

है।[२००] और इस तरह स्पष्ट किया गया है कि लक्षण की दृष्टि से अर्थात् निश्चयनय से आत्मा पौद्गलिक शरीर, पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों तथा तन्निमित्तक मोहरागादिभावों से रहित है।

द्वितीय शती ई० की 'तिलोयपण्णत्ती' में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ ली गयी हैं, जिनमें आत्मा को कर्मरज तथा देहादि से भिन्न निरूपित किया गया है। इसके अनेक उदाहरण प्रथम प्रकरण के (शीर्षक क्र.५) में देखे जा सकते हैं। पाँचवीं सदी ई० के पूज्यपाद देवनन्दी ने कुन्दकुन्द की **'एओ मे सस्सओ अप्पा'** (भावपाहुड/५९) इत्यादि गाथा का संस्कृत-रूपान्तरण कर **इष्टोपदेश** में आत्मा को एक, शुद्ध, ज्ञानी और निर्मम (परद्रव्यसम्बन्ध से रहित) प्रतिपादित किया है, और कहा है कि इसके अतिरिक्त जितने भी भाव आत्मा के साथ जुड़े दिखायी देते हैं, वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥ २७॥

इष्टोपदेश के एक अन्य श्लोक में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि जीव अलग है और पुद्गल अलग है—

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसङ्ग्रहः।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ ५०॥

छठी शताब्दी ई०[२०१] के जोइन्दुदेव ने **परमात्मप्रकाश** में स्वलक्षण की दृष्टि से आत्मा को देह से भिन्न बतलाया है—

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ॥ १/१४॥

अनुवाद—"जो परमसमाधि में स्थित होकर देह से भिन्न ज्ञानमय परमात्मा के दर्शन करता है, वही पण्डित (अन्तरात्मा) है।"

तथा 'समयसार' की गाथाओं (५०-५५) का अनुकरण करते हुए उन्होंने **परमात्मप्रकाश** में जीव के स्वभाव को वर्ण, गन्ध, रस, शब्द, क्रोध, मोह, मद, माया, मान आदि से रहित बतलाया है—

---

२००. "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।" त.सू./२/२३।

२०१. परमात्मप्रकाश/इण्ट्रोडक्शन/ए.एन.उपाध्ये/पृ.७५ तथा तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा/खं.२/पृ.२४८।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जासु ण वण्णु ण गंधुरसु जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु॥ १/१९॥

जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु॥ १/२०॥

'वरांगचरित' में, जो सातवीं शती ई० की रचना है, 'नियमसार' की '**एगो मे सासदो आदा**' इत्यादि गाथा संस्कृत पद्य के रूप में मिलती है। उसमें आत्मा को पुद्गलात्मक शरीर, द्रव्यकर्म एवं भावकर्म से रहित वर्णित किया गया है। उक्त पद्य पूर्व में उद्धृत किया जा चुका है।

ईसा की आठवीं शती (पूर्वार्ध) के अपराजित सूरि ने भगवती-आराधना की विजयोदया टीका (गा.४) में तथा वीरसेन स्वामी ने धवलाटीका (पु.३/१,२,१) में समयसार की '**अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं**' गाथा (४९) उद्धृत करते हुए आत्मा का रसादि-पुद्गलधर्मों से रहित होना स्वीकार किया है।

इस प्रकार जब हम देखते हैं कि प्रथम शती ई० के वट्टकेर (मूलाचारकर्त्ता) से लेकर आठवीं शती ई० तक के वीरसेन स्वामी आदि अनेक आचार्यों ने आत्मा को द्रव्यदृष्टि से कर्मरज-असम्पृक्त प्रतिपादित किया है, तब ''आठवीं शताब्दी ई० के गौडपाद की कारिकाओं को देखकर कुन्दकुन्द ने आत्मा के विषय में वेदान्तिक दृष्टि अपनायी होगी'' इस कथन की असत्यता तुरन्त स्पष्ट हो जाती है।

तथा कुन्दकुन्द ने निश्चयनय से उपादान को 'कर्त्ता' शब्द से अभिहित किया है और व्यवहारनय से निमित्त को।[२०२] निश्चयनय से अर्थात् उपादान की दृष्टि से आत्मा पुद्गलकर्मों के रूप में परिणमन नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा होने पर आत्मा के चेतन होने से पुद्गल कर्मों के भी चेतन होने का प्रसंग आयेगा, जो पुद्गल के लक्षण के विरुद्ध है। इसलिए आत्मा निश्चयनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता नहीं हो सकता। कर्त्ता न होने से उनके फल का भोक्ता भी नहीं हो सकता। जीव के शुभाशुभ भावों के निमित्त से पुद्गलद्रव्य स्वयं पुद्गलकर्मों के रूप में परिणमित हो जाता है, इसलिए जीव को व्यवहारनय से पुद्गलकर्मों का कर्त्ता कहा जाता है।[२०३] तथा पुद्गलकर्मों के उदय के निमित्त से जीव के परिणाम सुखदुःखात्मक हो जाते हैं। इस अपेक्षा से वह व्यवहारनय से पुद्गलकर्मों का भोक्ता कहलाता है। यह जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। इसे ही गुरुपरम्परा से प्राप्त कर कुन्दकुन्द ने समयसार में प्ररूपित किया है।

---

२०२. समयसार/गाथा ९८, १००, १०२, १०५, १०७।

२०३. जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण॥ १०५॥ समयसार।

यह कुन्दकुन्द द्वारा आविष्कृत नया सिद्धान्त नहीं है। ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में रचित कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त यह सिद्धान्त प्रथम शती ई० से लेकर आठवीं शती ई० तक के 'मूलाचार', 'तत्त्वार्थसूत्र', 'तिलोयपण्णत्ती', 'इष्टोपदेश', 'परमात्मप्रकाश', 'वरांगचरित', विजयोदयाटीका, धवलाटीका आदि में भी मिलता है। इनमें आत्मा को जो द्रव्यदृष्टि या लक्षण की दृष्टि से मात्र चैतन्यस्वरूप या ज्ञान-दर्शन-लक्षणात्मक बतलाते हुए पौद्गलिक देह-कर्मादि से रहित प्रतिपादित किया गया है, वह निश्चयनय से जीव के देह-कर्मादि के अकर्त्ता होने का भी प्रतिपादन है। और निश्चयनय से देहकर्मादि का अकर्त्ता-अभोक्ता प्रतिपादित किये जाने पर व्यवहारनय से उसका कर्त्ता-भोक्ता होना स्वतः सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त ग्रन्थों में स्पष्ट शब्दों में भी जीव के कर्तृत्व-अकर्तृत्व का प्रतिपादन किया गया है। यथा **तिलोयपण्णत्ती** (द्वितीय शती ई०) की निम्नलिखित गाथा में जीव को देह का अकर्त्ता कहा गया है—

णाहं पुग्गलमइओ ण दे मया पुग्गला कदा पिंडं।
तम्हा हि ण देहो हं कत्ता वा तस्स देहस्स॥ ९/३४॥

छठी शती ई० के जोइन्दुदेव ने भी **परमात्मप्रकाश** में जीव को निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष का अकर्त्ता कहा है—

बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ॥ १/६५॥

अनुवाद—"हे जीव! जीवों के बन्ध और मोक्ष सबको कर्म करता है, आत्मा कुछ भी नहीं करता, ऐसा निश्चयनय का कथन है।"

इस प्रकार जब कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रथम शती ई० से लेकर आठवीं शती ई० तक के अन्य ग्रन्थों में भी जीव के कर्तृत्व-अकर्तृत्व का वैसा ही निरूपण मिलता है, जैसा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में, तब ढाकी जी का यह कथन सत्य सिद्ध नहीं होता कि मध्ययुग के पूर्व तक किसी जैन विद्वान् ने आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व की, वैसी व्याख्या नहीं की, जैसी कुन्दकुन्द ने की है। अतः इस प्रकार की व्याख्या को मध्ययुग के पश्चात् विकसित मानकर कुन्दकुन्द को आठवीं शती ई० में उत्पन्न सिद्ध करने का प्रयास असत्याश्रित प्रयास है।

हाँ, यह सत्य है कि कुन्दकुन्द के पूर्व किसी ग्रन्थकार ने निश्चय-व्यवहार का आश्रय लेकर जीव के कर्तृत्व-अकर्तृत्व, भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व आदि का निरूपण नहीं किया। वह सर्वप्रथम आचार्य-परम्परा से प्राप्त उपदेश के आधार पर कुन्दकुन्द के द्वारा किया गया है। किन्तु ईसा की पहली शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक के तथा उसके भी बाद के ग्रन्थकारों ने कुन्दकुन्द का अनुसरण कर अपने ग्रन्थों

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

में भी जीव के कर्तृत्व-अकर्तृत्व आदि का वैसा ही निरूपण किया है। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द इन समस्त ग्रन्थकारों से पूर्ववर्ती अर्थात् प्रथम शती ई० के मूलाचार-कर्त्ता आचार्य वट्टकेर से भी पूर्ववर्ती हैं।

११

'स्वसमय', 'परसमय' शब्दों का नवीनार्थ में प्रयोग

प्रो० ढाकी का तीसरा अन्तरंग हेतु—'स्वसमय' और 'परसमय' ये शब्द बहुत पहले से स्वमत और परमत के अर्थ में प्रसिद्ध थे। किन्तु कुन्दकुन्द ने इनकी परिभाषा पूर्णतः बदल दी। उन्होंने 'स्वसमय' शब्द का प्रयोग 'आत्मा से सम्बद्ध पदार्थ' और 'परसमय' का प्रयोग 'आत्मा से भिन्न पदार्थ' के अर्थ में प्रचलित कर दिया। इन शब्दों की ऐसी परिभाषा दक्षिण के जैनग्रन्थकारों ने भी निर्दिष्ट नहीं की है।[२०४]

निरसन

आत्मा के अर्थ में भी 'समय' शब्द का प्रयोग परम्परागत

कुन्दकुन्द-साहित्य में 'समय' शब्द छह अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—१. आत्मा,[२०५] २. परमागम, जैनसिद्धान्त, शास्त्र या जिनमत[२०६] ३. सम्प्रदाय[२०७] ४. पदार्थ सामान्य,[२०८] ५. पाँच अस्तिकायों का समूह,[२०९] और ६. कालांश।

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मार्थक 'समय' शब्द और सम्प्रदायार्थक 'समय' शब्द दोनों के स्वसमय और परसमय, इन दो-दो भेदों का निरूपण किया है। आत्मार्थक 'समय' शब्द के भेद निम्न गाथा में वर्णित हैं—

---

२०४. "As its corolary as though, Kundakundācārya completely redifines the terms svasamaya and parasamaya, the terms which for long had been understood as the 'doctrine of one's own sect' and ' the doctrine of the other's sect.' According to Kundakundācārya, svasamaya is the one which ralates to ātman, the parasamaya meant anything outside ātman including one's body. This is an absolutely diffenent way of looking at the connotation of the terms, indeed not referred to by even Southern Jaina Writers." Aspects of Jainology, Vol. III , pp.198,199.

२०५. आत्मख्याति एवं तात्पर्यवृत्ति / समयसार / गा.१।

२०६. प्रवचनसार / गा.२ / ९६, ३ / ७१।

२०७. नियमसार / गा.१५६ तथा कुन्दकुन्दकृत आचार्यभक्ति / गा. २।

२०८. "समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते।" आत्मख्याति / समयसार / गा.३।

२०९. "समवाओ पंचण्हं समउत्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं॥ ३॥" पञ्चास्तिकाय।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जीवो चरित्त दंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥ २॥ स.सा.।

अनुवाद—"दर्शनज्ञानचारित्र में स्थित आत्मा (शुद्धात्मा) स्वसमय है और पुद्गलकर्मप्रदेशों में स्थित आत्मा (मोहरागद्वेषपरिणत अशुद्धात्मा) परसमय।"

सम्प्रदायार्थक 'समय' शब्द के दो भेदों का उल्लेख करनेवाली गाथा इस प्रकार है—

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो॥ १५६॥ नि.सा.।

अनुवाद—"लोक में नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं तथा नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं। अतः स्वसमयों (स्वधर्मियों) एवं परसमयों (परधर्मियों) के साथ वचनविवाद नहीं करना चाहिए।"

कुन्दकुन्दकृत **आचार्यभक्ति** में भी सम्प्रदाय के अर्थ में स्वसमय और परसमय शब्द प्रयुक्त हुए हैं—

सग-पर-समयविदण्हू आगमहेदूहिं चावि जाणित्ता।
सुसमत्था जिणवयणे विणये सत्ताणुरूवेण॥ २॥

अनुवाद—"वे आचार्य स्वमत और परमत के ज्ञाता होते हैं, आगम और हेतुओं के द्वारा पदार्थों को जानकर जिनवचनों के प्ररूपण में तथा शक्ति अथवा प्राणियों के अनुरूप विनय करने में समर्थ होते हैं।

प्रवचनसार की निम्नलिखित गाथा में परमतावलम्बी के अर्थ में 'परसमय' शब्द का प्रयोग किया गया है—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ॥ २/६॥

अनुवाद—"द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है। जिनेन्द्रदेव ने उसे स्वरूप से सत् कहा है। उसका यह स्वरूप आगम से निर्णीत है। जो ऐसा नहीं मानता, वह परसमय (परमतावलम्बी) है।"

ये उदाहरण बतलाते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वसमय और परसमय शब्दों का प्रयोग शुद्धात्मा और अशुद्धात्मा तथा स्वमत और परमत दोनों अर्थों में किया है। इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द के पूर्व से ही उक्त शब्दों का प्रयोग दोनों अर्थों में होता आ रहा था। यदि कुन्दकुन्द ने उक्त शब्दों को स्वमत और परमत के अर्थों

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जीवो चरित्त दंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥ २॥ स.सा.।

अनुवाद—"दर्शनज्ञानचारित्र में स्थित आत्मा (शुद्धात्मा) स्वसमय है और पुद्गलकर्मप्रदेशों में स्थित आत्मा (मोहरागद्वेषपरिणत अशुद्धात्मा) परसमय।"

सम्प्रदायार्थक 'समय' शब्द के दो भेदों का उल्लेख करनेवाली गाथा इस प्रकार है—

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो॥ १५६॥ नि.सा.।

अनुवाद—"लोक में नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं तथा नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं। अतः स्वसमयों (स्वधर्मियों) एवं परसमयों (परधर्मियों) के साथ वचनविवाद नहीं करना चाहिए।"

कुन्दकुन्दकृत **आचार्यभक्ति** में भी सम्प्रदाय के अर्थ में स्वसमय और परसमय शब्द प्रयुक्त हुए हैं—

सग-पर-समयविदण्हू आगमहेदूहिं चावि जाणित्ता।
सुसमत्था जिणवयणे विणये सत्ताणुरूवेण॥ २॥

अनुवाद—"वे आचार्य स्वमत और परमत के ज्ञाता होते हैं, आगम और हेतुओं के द्वारा पदार्थों को जानकर जिनवचनों के प्ररूपण में तथा शक्ति अथवा प्राणियों के अनुरूप विनय करने में समर्थ होते हैं।

प्रवचनसार की निम्नलिखित गाथा में परमतावलम्बी के अर्थ में 'परसमय' शब्द का प्रयोग किया गया है—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ॥ २/६॥

अनुवाद—"द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है। जिनेन्द्रदेव ने उसे स्वरूप से सत् कहा है। उसका यह स्वरूप आगम से निर्णीत है। जो ऐसा नहीं मानता, वह परसमय (परमतावलम्बी) है।"

ये उदाहरण बतलाते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वसमय और परसमय शब्दों का प्रयोग शुद्धात्मा और अशुद्धात्मा तथा स्वमत और परमत दोनों अर्थों में किया है। इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द के पूर्व से ही उक्त शब्दों का प्रयोग दोनों अर्थों में होता आ रहा था। यदि कुन्दकुन्द ने उक्त शब्दों को स्वमत और परमत के अर्थों

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

में प्रयुक्त न कर केवल शुद्धात्मा और अशुद्धात्मा के अर्थों में प्रयुक्त किया होता, तब कहा जा सकता था कि उन्होंने उक्त शब्दों को सर्वथा नये अर्थों में व्यवहृत किया है। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। अतः प्रो० ढाकी का यह कथन समीचीन नहीं है कि कुन्दकुन्द के द्वारा उक्त शब्द परम्परागत अर्थ की अपेक्षा सर्वथा नये अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं, अतः वे (कुन्दकुन्द) अर्वाचीन हैं।

आत्मा के अर्थ में 'समय' शब्द का प्रयोग श्वेताम्बरसाहित्य में तो मिलता ही नहीं है, दिगम्बरसाहित्य में भी 'समयसार' के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। मूलाचार में समयसाराधिकार की प्रथम गाथा में समयसार शब्द का प्रयोग है, किन्तु उसका अर्थ शुद्धात्मा नहीं है, अपितु 'जिनागम का सार' है। और आत्मा के अर्थ में 'समय' शब्द के प्रसिद्ध हुए बिना कुन्दकुन्द का उस शब्द के माध्यम से आत्मा के सूक्ष्म, गूढ़ स्वरूप के विवेचन का प्रयास निरर्थक होता। इससे ध्वनित होता है कि कुन्दकुन्द उस प्राचीन युग के हैं, जब दिगम्बरजैनपरम्परा में 'समय' शब्द आत्मा के अर्थ में भी प्रसिद्ध था और दर्शनज्ञानचारित्र-स्थित आत्मा स्वसमय कहलाता था तथा मोहरागद्वेष-परिणत आत्मा परसमय। इस प्रकार इन अर्थों में 'समय', 'स्वसमय' और 'परसमय' शब्दों का प्रयोग कुन्दकुन्द की प्राचीनता का सूचक है। अतः इन शब्दों के प्रयोग से उनके ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में विद्यमान होने की पुष्टि होती है।

१२

कुन्दकुन्द प्रतिपादित 'शुद्धोपयोग' ८वीं शती ई. से पूर्व अज्ञात

प्रो० ढाकी का चौथा अन्तरंग हेतु—कुन्दकुन्द ने उपयोग के शुभ और अशुभ भेदों के अतिरिक्त एक तीसरे 'शुद्ध' भेद को भी जन्म दिया है। यह पहले अज्ञात था। (Asp. of Jaino, vol. III, p.199)।

निरसन

पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भी 'शुद्धोपयोग' का उल्लेख

ढाकी जी कुन्दकुन्द को आठवीं सदी ई० का मानते हैं। किन्तु आठवीं सदी के पहले से लेकर ईसा की पहली सदी तक के ग्रन्थों में शुद्धोपयोग का उल्लेख मिलता है। अतः यह कथन मिथ्या है कि आठवीं सदी के पूर्व तक यह अज्ञात था। देखिए—

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

प्रथम शती ई० के ग्रन्थ **भगवती-आराधना** की निम्नलिखित गाथा में 'शुद्धोपयोग' शब्द का उल्लेख है—

अणुकंपासुद्धुवओगो वि य पुण्णस्स आसवदुवारं।
तं विवरीदं आसवदारं पावस्स कम्मस्स॥ १८२८॥

अनुवाद—"अनुकम्पा और शुद्धोपयोग पुण्यकर्म के आस्रव के द्वार हैं तथा उनसे विपरीत परिणाम (अननुकम्पा और अशुद्धोपयोग) पापकर्म के आस्रव के द्वार।"

यद्यपि इस गाथा में शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयोग शब्द शुभोपयोग और अशुभोपयोग के अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, तथापि **भगवती-आराधना** में 'अशुभपरिणाम' शब्द का भी प्रयोग हुआ है,[२१०] जो प्रतिपक्षी 'शुभपरिणाम' शब्द की स्वीकृति का सूचक है और अधोलिखित गाथा में इन दोनों परिणामों को संसार-महोदधि में चिरकाल तक भ्रमण करानेवाला कहा गया है—

दुविहपरिणामवादं संसारमहोदधिं परमभीमं।
अदिगम्म जीवपोदो भमइ चिरं कम्मभण्डभरो॥ १७६६॥

अनुवाद—"कर्मरूपी भाण्ड (माल) से भरा हुआ जीवरूपी जहाज शुभ-अशुभ परिणामरूप हवा से प्रेरित होकर अत्यन्त भीषण संसार-महासागर में चिरकाल तक भ्रमण करता है।"[२११]

जब शुभ और अशुभ दोनों परिणाम संसारसागर में भ्रमण कराने के हेतु हैं, तब इन दोनों परिणामों का अभावरूप परिणाम मोक्ष का हेतु है, यह स्वतः फलित होता है। उसी का नाम शुद्धोपयोग है। उसे भगवती-आराधनाकार ने 'शुद्धमनोयोग',[२१२] 'मनोगुप्ति',[२१३] 'विशुद्धात्मा',[२१४] और 'भावशुद्धि'[२१५] आदि शब्दों से भी अभिहित किया है।

---

२१०. असुहपरिणामबहुलत्तणं च लोगस्स अदिमहल्लत्तं।
जोणिबहुत्तं च कुणदि सुदुल्लहं माणुसं जोणी॥ १८६२॥ भगवती-आराधना।
२११. "द्विविधः शुभाशुभपरिणामा वाता यस्मिंस्तमतिभयङ्करं संसारमहोदधिं प्रविश्य जीवपोतः चिरकालं भ्रमति कर्मद्रविणभारः।" विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना / गा. १७६६।
२१२. अवहट्ठ कायजोगे व विप्पओगे य तत्थ सो सव्वे।
सुद्धे मणप्पओगे होइ णिरुद्धज्झवसियप्पा॥ १६८९॥ भगवती-आराधना।
२१३. जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्तिं॥ ११८१॥ भगवती-आराधना।
२१४. एवं सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा॥ १६९०॥ भगवती-आराधना।
२१५. समदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेसु।
परतत्तीसु य तत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए॥ १९४७॥ भगवती-आराधना।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in